श्री भक्तमाल (सटीक)

लेखक : नभादास

टीका० प्रियादास

संपा० सीताराम शरण

बनारस

बलदेव नारायण सिंह

१९०४

श्रीसीताराम

(सोरठा)

गणपति गिरा मनाइ, श्रीगौरी श्रीमारुती ।
चरणकमल सिरुनाइ, भक्तमाल पुनि कहत हौं ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः । श्रीमतेरामानन्दाय नमः ॥
श्रीचन्द्रकलादेव्यैनमः । श्रीहंसकलायैनमः ॥

जयजय श्रीजानकीजानकीजीवन जी, जय ! तुम युगल की जय; युगल परिकरों और पार्षदों की जय; तुम्हारे नाम, धाम, भक्ति, और भक्तों की जय; तुम्हारे भक्तों के उदार चरित्रों की जय ।

करुणाकर सर्कार ! उसदिन इसदीन ने श्रीरतिवन्ती जी की टीकाके अनन्तर उपरामकियाथा ।

आज पुनः आपकी कृपासे तिलकका आरम्भ श्रीप्रसादनिष्ठ पुरुषोत्तमपुरनृपति के सुयश (पचासवें मूल) से करता है । जयजय, नमामिनमामि ॥

(२४२/८४२) छप्पै ।

प्रसाद अवज्ञा जानिकैं, पाणि तज्यौ एकै नृपति ॥ हौं कहा कहौं बनाइ बात, सबही जग जानै । करतैं "दौना" भयौ; स्याम सौरभ, मन मानै ॥ 'छपन भोग'

तैं पहिल खीच "करमा[२]" की भावै। सिलपिल्ले के कहत कुँअरि[३।४] पै हरि चलि आवैं॥ भक्तन हित सुत विष दियो भूपनारि;[५।६] प्रभु राखि पति। प्रसाद अवज्ञा जानिकैं पाणि तज्यो एकै नृपति॥४५॥ (५०/२१२)

"अवज्ञा"=अपमान, आदर का अभाव। "श्याम"=भगवत। "सौरभ" = सुगंध॥ "दौना" = दमना, दौंना, दवँना। "खीच" = खिचड़ी

वार्तिक तिलक।

श्रीमहाप्रसाद की महिमाजाननेवाला श्रीपुरुषोत्तमपुरी का ऐसा राजा एकही (अर्थात् अद्वितीय) हुआ, कि जिसने अपने दाहिने हाथसे श्रीप्रसादकी अवज्ञा जानके उसको कटवाही डाला। मैं बातें बनाकर क्या कहूं, सारा संसार जानता है कि उसी कटेहुए हाथ से "दौना" उत्पन्नहुआहै; कि जिसका सुगन्ध श्री पुरुषोत्तम प्रभुको बहुतही भाताहै।

(२) जगन्नाथजी को छप्पन प्रकार के भोग से भी पहिले श्रीकर्माजीकी खिचड़ीही निवेदन होतीहै, वही बहुत अच्छी लगतीहै।

(३।४) "सिलपिल्ले! सिलपिल्ले!!" कहके पुकारने से दो कन्याओं के पास भगवान् का चले आना प्रसिद्ध ही है।

(५।६) भक्तों के लिये, अर्थात् सन्त को रखने के हेतु,

तथा सन्तों की कुछ काल पर्य्यन्त सेवापूजा के अर्थ, रानियों नें अपने अपने पुत्र को बिष ही देदिये; श्रीप्रभुने कृपाकरके उनकी लज्जा (पति) रखली, तथा उन दोनों के अभिलाषको पूर्णकर पति को और पुत्रोंको भी बचालिया ॥

अब इन (छहो) भक्तों की कथा आगे आती है ॥

प्रसादनिष्ठ पुरुषोत्तमपुर-नृपति।

(२/८ ४/५ ३/२) टीका। कवित्त।

प्रसादकी अवज्ञा तैं तज्यौ नृप कर एक करिकैं विवेक; सुनौ जैसैं बात भई है। खेलै भूप चौपरि कौं, आयो प्रभु-भुक्त-शेष, दाहिने मैं पासे, बाएँ छुयौ, मति गई है ॥ लै गए रिसायकैं फिराय, महा दुख पाय, उठ्यो नरदेव, गृह गयो, सुनी नई है। लियो अनसन, "हाथ तजौं याही छन, तब सांचौ मेरौ पन," बोलि विप्र पूछिलईहै ॥१९३॥ (६२९—४३६)

"प्रभुभुक्तशेष" = भगवत प्रसाद। "अनसन" उपवास ॥

वार्तिक तिलक।

श्रीजगन्नाथपुरीके महाराजने, श्रीभगवत्प्रसाद के अपमान के कारण अपना दाहिना हाथही कटवाडाला। यह वृत्तान्त जैसे हुआ सो सुनिये। राजा चौपड़ खेलने में निमग्न हो रहाथा, उसीसमय पण्डाजी श्रीप्रसाद लाए। दक्षिणकर में पासे थे, सो उसने बाएंही

हाथ से श्रीप्रसाद का स्पर्शात्मक ग्रहण किया, ऐसी उसकी मति खेलकेबश चली गई । इस असह्य अपमान से क्रोध में आके, पण्डा श्रीप्रसाद फेरलेगए ।

राजा उठकर घर आया, वहां उसको यह नई बात सुनने में आई कि पण्डा आज प्रसाद पाकशाला में नहीं देगए! नरपति ने बड़ा दुखपाया उसको अत्यन्त पश्चात्ताप और ग्लानि हुई; उसने अनसन व्रत लिया; और यह संकल्प किया कि "इसी क्षण इस हाथ को तजदूं तबतो मेरा भक्तिपन सच्चा" ।

विद्वान ब्राह्मणों को बुलाकर महाराज ने इसबात की अनुमति भी लेली कि "जिस अंग से भगवत का अपराध हो जावे उसको त्यागकरना भला है ॥

(२४४/८४३) टीका । कवित्त ।

"काटै हाथ कौन मेरो ?" रह्यो गहिमौन यातें; पूछत सचिव कथा विथा, सो विचारियै । "आवै एक प्रेत, मो दिखाई नित देत निशि, डारिकैं झरोखा कर, शोर करै भारियै" ॥ "सोऊं ढिग आइ, रहौं आप पुकौं छिपाइ, जब डारै पानि आनि, तब ही सु काटि डारियै" । कही नृप "भलैं"; चौकी देत मैं घुमायो, भूप डार्‍यो उठि आइ छेद, न्यारो किया, वारियै ॥१९४॥ (६२९-४३५)

"पूछत कथा, विथा"=वार्ता तथा व्यथा का विवर्ण पूछा । "शोर" =,,", कोलाहल, चिल्लाहट । "डारै पानि आनि" = आके हाथ डाले । "वारियै"=न्यवछावर करदिया । "यातैं" = इससे, इसहेतु ।

वार्त्तिक तिलक।

राजा इस सोचविचारमें था कि "मेरा हाथ कौन और क्योंकर काटै ?" और इसीसे खिन्नचित्त चुप बैठाथा।

मन्त्री ने पूछा कि महाराज! "वार्त्ता क्या है? आप व्यथा को प्रगट कीजिये, तो उस्का प्रयत्न किया जावे" राजाने उत्तरदिया कि "नित्यही एक प्रेत आता है, रात्रिके समय मुझे देखपड़ताहै, झरोखेमें हाथ डालकर वह बड़ीभारी चिल्लाहट मचाया करताहै"।

मन्त्रीने कहा कि "मैं आपके पर्यंकके पास आके सोऊं और अपनेतईं छिपाए रहूं। वह प्रेत ज्योंही आके झरोखे में हाथडालै त्योंही काटडालूं"। राजा बोला "बहुत अच्छा"।

मन्त्री चौकी देरहाथा, राजा अपने पर्यंकसे उठआया और छेदमें हाथ डालकर उसने हाथको घुमाया। वहीं, मन्त्रीने हाथको धड़से काटके अलगकर दिया। मानों राजाने अपने करको श्रीप्रभुपर यों न्यवछावर किया॥

(१४५/८४२) टीका। कवित्त।

देखिकैं लजानौं, "कहा कियौं मैं अजानौं!" नृप कही "प्रेत मानैं यही, हरि सों बिगारियै"। कही जगन्नाथदेव, "लै प्रसाद जावौ उहां, ल्यावौ हाथ, बोवौ बाग, सोई उर धारियै"॥ चले तहां धाइ, भूप आगे मिल्यो आइ, हाथ निकस्यो, लगाये हियैं, भयौ सुख भारियै। ल्याए कर फूल, ताके भए फूल "दौना" के, जु नितहीं चढ़त अंग, गन्ध हरिप्यारियै॥१९५॥(६२९-४३४)

"बिगारियै" =बिगाड़ किया है। अपराध कियाहै। "ल्याएकर फूल"–कर रूपी फूल को लाए; वा, हर्ष से फूलकर कर को लाए।

वार्तिक तिलक ।

मन्त्री ने जब देखा कि यह मैंने राजाहीका हाथ काट-डाला, तब वह बड़ाही लज्जित हुआ, और पछताने लगा कि "मुझ अनजान ने यह क्या किया!"

तब महाराजने कहा कि "इसी हाथकी प्रेत मानो क्योंकि इसने हरिका अपराध कियाहै। तुमने तो बहुत अच्छा किया"।

(श्लोक) "प्रसादं जगदीशस्य अन्नपानादिकंचयत्।
ब्रह्मवन्निर्विकारंहि यथाविष्णु स्तथैव तत् ॥ १ ॥

उसी क्षण श्रीजगन्नाथजी ने पण्डोंको आज्ञा की कि "प्रसाद लेके वहां जाव, राजाको दो, और कटा हुआ हाथ लाके बाटिका में बोदो, (भूमिमें गाड़दो) उसीसे जो दौना होगा मैं उसी दौना को हृदय में धारण किया करूंगा।

पंडा लोग उधर दौड़े; राजा उतावल हो आगे आ, उनकी अगुआनी कर उनसे सादर सविनय मिला; प्रसाद केलिये प्रेमसे दोनोंही हाथ उठाए (हाथबढ़ाये) तो दाहिना हाथ, भी निकल आया अङ्गुलियां इत्यादि सब पूरी पूरी; अब दक्षिणहस्त पहिलेसे भी अति सुन्दर होआया।

चौ० "गहतप्रसाद हाथ जमिआयो। सकल पुरी 'जयजय' रव छायो"

प्रसादकी हृदय लगाया, परस्पर मिले, भारी सुख और आनन्द हुआ। हर्षसे फूलके फूलरूपी कर को लाए, बाटिका में गाड़ दिया; वही सुगंधित पत्र "दौना" हुआ, कि जो भगवान्के अंगपर नित्य चढ़ायाजाताहै, और उसका सुगन्ध सर्कार की अति प्रिय है; अबतक प्रभाव प्रसिद्ध है। प्रभुकी कृपालुता की जय ॥

श्रीकर्मा बाईजी।

(२४६ / ८४२) टीका। कवित्त।

हुती एक बाई, ताको "करमा" सुनाम जानि, बिना रीति भांति भोग खिचरी लगावही। जगन्नाथदेव आपु भोजन करत नीकैं, जिते लगैं भोग तामैं यह अति भावही ॥ गयौ तहां साधु, मानि 'बड़ो अपराध करै,' भरै बहु स्वांस, सदाचार लै सिखावही। भई यों अबार, देखैं खोलिकैं किवार, जोपै जूठनि लगीहै मुख धोए-बिनु आवहीं ॥ १९६ ॥ (६२९—४३२)

वार्तिक तिलक।

श्रीकर्माजी नामक एक वात्सल्यरसकी बड़ीप्रेमी बाईजी श्री पुरुषोत्तमपुरी ही में रहतीथीं। सो बड़ेभोरे नित्य श्रीजगन्नाथ जी को खिचड़ी भोग लगायाकरतीथीं, परंतु किसी रीति भांति सदाचार पर ध्यान नदेके बिना स्नान चौका इत्यादि केही खिचड़ी कर बड़ेही प्रीति से अर्पणकियाकरतीं। इसका ध्यान तो अवश्य रखतीं कि अबेर न हो और कच्ची वा अलोनी न रहै। "सांची

प्रीति करै प्रभुमाहीं। राति दिवस विसरैसुधि नाहीं ॥ कब मैं रचि रचि खिचरि बनाऊं। कब लालहिं मैं भोग लगाऊं॥"

श्रीजगदीशभगवान् सुन्दर बालक रूपसे नित्य प्रातः-काल आपही जाके बड़ी प्रसन्नतासे भोजन करआतेथे। जितने विविध पदार्थ भोगलगाकरतेथे तिन सब में प्रभु-को यह अतिही नीक लगतीथी, सबसे पहिले इसीको पायाकरतेथे।

एक दिन वहां एक सन्त गए; उनने सब देखा; अपने जीमें माना (विचार किया) कि "यह बड़ाभारी अपराध करती है," आप स्वांस भरके बोले, और आपने श्रीबाईजी को बहुत प्रकारसे साम्प्रदायिक आचारविचार का उपदेश किया।

बांईजी डरीं; और बताईहुई रीति भांति से खिचड़ी की; तथा सदाचारअनुकूल उस्को अर्पणकिया; इस कारण बड़ा बिलम्ब और अतिकाल हुआ ही।

यहां पंडों ने जो श्रीजगन्नाथजी के मन्दिरके पट खोले तो श्रीमुखमें खिचड़ी लगीहुई दरशन पाए। क्योंकि अबेर होने के कारण शीघ्रतासे प्रभु बिना श्रीमुख धोलाए ही बाईजी केहांसे चले आए।

(२४७/८६२) टीका। कवित्त।

पूछी, "प्रभु! भयो कहा? कहिये प्रगट खोलि, बोलिहू नआवै हमैं, देखि नई रीति है"। "करमा सु-

बिनाजानेही अन्यथा कुछ कहना अनीति है॥

"जाननिहारे जानहीं,बड़ो नेम ते प्रेम" ॥

पण्डोंने उस सन्त से वही बात समझाकर कही कि "महात्मा जी! आप जाके श्रीकर्माबाईजी से फिर कह आइये 'कि मैंने जो झंझट बताएथे उन्हे आप जानेदीजिये, और जैसे प्रथम आप प्रभातही शीघ्रतासे भोग अर्पण किया करतीथीं उसी सरल भाव से निःशंक आप अपनीसी कीजिये, श्रीभक्तवत्सल भावग्राहक सर्कार इसीमें प्रसन्नहैं'।"

वे साधुजी डरगए और बेगि जाके वैसाही ठीकठाक कर आए।

प्रभु आज्ञा से अबतक सबसे पहिलेही श्रीकर्मा जीकी खिचड़ी भोग लगाई जाती है॥

भांवभक्ति, सरलता, और सच्ची प्रीति की जय !!

"नहिं विद्या, कुल, जाति, अचारा।
रामहिं केवल प्रेम पियारा॥"

सिलपिल्लेभक्त उभय बाई।

(२४८/८४२) टीका। कवित्त।

"सिलपिल्ले भक्त उभै बाईं", सोई कथा सुनौ, एक 'नृपसुता,' एक 'सुता जिमींदार की'। आए गुरु घर, देखि सेवा, ढिग बैठीं जाइ, कही ललचाइ "पूजा कीजै सुकुवाँर की"॥ दियो 'सिलाटूक' लैकै, नाम कहि दियो

नाम एक खिचरी खवावै मोहि, मैं हू नित पाऊं जाइ, जानि सांचोप्रीति है ॥ गयौ मेरो सन्त, रीति भांति सो सिखाइ आयो; मत मो अनन्त, बिनु जाने यों अप-नीति है"। कही वही साधु सों "जु! साधि आवौ वही बात"; जाइकैं सिखाई, हिय आई बड़ी भीति है ॥१९७॥ (६२९—४३२)

"मत मो अनन्त"=मेरे प्रेमियों तथा भक्तों के भजन सेवा के मत और मार्ग अनेक तथा अनन्त हैं, इदमित्थं नहीं। "साधि आवौ वही बात" = उसी बात को ठीकठाक कर आवो।

वार्तिक तिलक।

पंडोंने स्तुति बिनय करके पूछा कि "प्रभो! हम सब के मुँह से भय केमारे बात नहीं कहते बनतीहै, आज यह नई रीति देखने में आरहीहै, बार्ता क्या है? सो कृपाकर खोलके प्रगट बता दीजिये"।

आज्ञाहुई कि "करमा" नामक एक बाई है, सो नित्य-ही मुझको खिचड़ी खिलाती है, मैंभी उसकी सच्ची प्रीति लखके नित्य जाके पा आया करताहूं। उसकेहां कल एक मेरे सन्त गए सो वे उसको सदाचार रीति भांति सिखा आएहैं, इसीसे विलम्ब हुआ सो त्वरा (जलदी)से मैं विना मुखधुलाएहुएही चलाआयाहूं; वह साधु यह नहीं जा-नते कि मेरी अर्चापूजा की रीति इदमित्थं नहीं बरंच नेमियों तथा प्रेमियोंके पथ इतने बिविधप्रकारके हैं कि जिनका अन्त कोई नहीं पासकता, और इस रहस्य को

वही, कीजिये लगायमन मति भवपार की। करतकरत अनुराग बढ़िगयो भारी, बड़ी यै विचित्र रीति यही सोभासार की ॥ १९८ ॥ (६२९—४३१)

"पिल्ला"=लड़का, बेटा ("भखरसरगुजा" ओर की बोली) "सिल-पिल्ले" = "सिलाटूक" = पत्थल के टुकड़े। "उभय" = २; दो। "जिमीं-दार"=(زمیندار) ज़मींदार,-भूम्यधिकारी। "सुकुमार, शोभासार"=भगवत।

वार्तिक तिलक।

एक राजकन्या और एक भूम्यधिकारीसुता सिल-पिल्ले-भगवान्-की-भक्त दोनों बाइयों की अपूर्व कथा सुनिये। ये दोनों एकसाथही रहती खेलती थीं।

एक समय राजाकेगुरु महाराज आए; उनको श्री-सालग्रामजी की सेवा करते देख, ये दोनों पास जा बैठीं; बरंच हरिकृपासे पूर्वजन्म के भक्ति-संस्कार-बश सेवा-पूजा को ललचीं, और गुरुजी से इन दोनों ने मांगा कि "महाराज! श्रीठाकुरजी की मूर्ति हमको भी दीजिये; हम सोभासार सुकुमारप्रभुकी पूजा सेवा करेंगी"।

उनने बालक जान दोनोंको एक एक टुकड़ा पत्थर देके कहदिया कि इन ठाकुरजीका नाम "सिल-पिल्ले" है, मति और मन लगाके प्रीतिसे इनकी पूजा कियाकरो तथा यह प्रतीति रक्खो कि "येही हमको भव-सागर से पारउतारदेंगे"।

वे बड़भागिन सेवा पूजा करनेलगीं; करतेकरते उनकी प्रीति प्रतीति भगवत्मूर्त्तिमें अत्यन्त बढ़गई, उन सिल-

पिल्लों मेंही श्रीसुकुमारशोभासार जी के रूप अनूप उन दोनों को झलक गए।

युगलसर्कारकी कृपा की यह बड़ीअनोखी रीति है कि

☞"करते करते नकल के, सही असल है जाय।"

"सांचा जगमें बिरलाकोय। झुठझुठ खेलै सांचा होय"

भगवतके सच्चे प्रेमियों के व्यवहार तथा आचरण का सच्चे मन से नेमसे अनुकरण करतेकरते भगवतकृपा-से लोग वास्तव में हरिभक्त अवश्य होही जातेहैं; यह बात विशेषकरके जानके मनस्थ रखने की है॥

(२४९/८४२) टीका। कवित्त।

पाछिले कवित्त मांझ दुहूँनकी एक रीति, अब सुनौ न्यारीन्यारी नीके मनदीजियै। "जिमींदार सुता" ताके भए उभै भाई, रहै आपुसमैं बैर, गावँ मास्यो, सब छीजियै॥ तामैं गई सेवा, इन बड़ोई कलेस कियौ, जियौ नाहिँ जात, खानपान कैसैं कीजियै। रहे समुझाय, याहि कछु न सुहाय, तब कही "जायल्यावौ, तेरे दोऊ सम धीजियै॥ ९९९॥ (६२९-४३०)

"भए उभयभाई" = दो भाई थे, 'दोनों भाई अलग हुए। गावँ मास्यो" = गांवँ में (इसके घर पर) डाका दिया वा छापामारा, लूट लिया। "छीजिये" = क्षय हुआ, जाता रहा, नाश हुआ। "सेवा" = पूजने की मूर्त्ति। "सम धीजिये" = तुल्य प्रिय समझिये॥

वार्तिक तिलक।

यहांतक तो दोनों लड़कियों की एक ही रीति की

वार्ता हुई; अब आगे मन लगाके उनके सुचरित्र अलग अलग सुनिये" ।

(१) भूम्यधिकारीसुता (जमींदार की लड़की)।

इसके दोनों भाई दो गांवँ में रहते और उनमें परस्पर अत्यन्तही विरोध था; वह दूसरा भाई इसपर छापा मारके गांवँ और घर को लूट लेगया। सबकुछ गया उसमें उस कन्या की सेवा पिटारी भी लुटगई। इस लड़कीको बड़ाही क्लेश प्राप्तहुआ; प्राण ही भार हो गए जीवनही कठिन अप्रिय था तो अन्न जल कैसे अच्छा लगता।

(दो०) "धवल महल, शय्या धवल, धवल शरद ऋतु रैन।
एक राम बिन व्यर्थ सब, जिमि बिनु पुतरी नैन॥"

सब लोग समझातेसमझाते हारगए, पर इसको कुछ भी नहींसुहाताथा। तब सबने कहा कि "तुझको तो दोनोंभाई समान ही हैं, तू उसभाई के पास जाके स्वभावतः अपनी सेवाकी मूर्त्ति मांग ला॥"

(दो०) उमा, जे रघुपति चरणरत, विगत काम मद क्रोध।
निज-प्रभु-मय देखहिँ जगत, कासन करहिँ विरोध?॥

(२५०/८४१) टीका। कवित्त।

गई वाही गांवँ जहां दूसरो जू भाई रहै, बैठ्यौही अथाई मांझ, कही वही बात है। "लेवौ जू पिछानि तहँ बैठे एक ठौरे प्रभु"; बोलि उठ्यो कोऊ "बोलि लीजै प्रीति गात है"॥ भई आंखि राती, लागी फाटिबे कौं छाती, सो पुकारी सुर आरत सीं, मानौ तन पात

है। हिये आइ लागे, सब दुख दूर भागे, कोऊ बड़े भाग जागे, घर आई, न समात है॥ २०० ॥ (६२९–४२९)

"अथाई" = बैठक। "राती" = लाल, अरुण। "सुर आरत" = आरत के बचन का स्वर। "न समात" = प्रहर्ष से फूली समाती नहीं।

वार्त्तिक तिलक।

वह भक्तिवती, जिस गांव में दूसरा भाई रहताथा वहां गई, कि जहां वह अपनी अथाई में बैठाहुआथा इसने वही बात कही, (अर्थात् "मेरे तो जैसे वह भाई तैसे ही तुम, भाई भाई में चाहे जैसी हो पर मुझपर तो आप दोनों ही की समान कृपा चाहिये, मैं अपने ठाकुरके बिन मृतकप्राय हो रहीहूं।) "मेरी सेवाकी मूर्त्ति देके मुझको प्राणदान दीजिये"। उसने कहा कि "जा वहां सब ठाकुर एकही ठौर विराजतेहैं अपना पहिचान के लेले"। यह कन्या बड़ी प्रसन्न हुई; परन्तु उसके भाईके पास बैठेहुए लोगों मेंसे एक बिमुख बोलउठा कि "यदि ऐसीही प्रीति तुम्हारे हृदयमें है तो तुम यहींसे अपने भगवान् को बुलालो"

उस दुष्ट की ऐसी बात सुन यह बिरहसे व्याकुल होगई, आंखें सजल तथा लाल होआईं, छाती फटने लगी, अति आरत दशा में वैसेही स्वर से इसने अपने "सिलपिल्ले" भगवान् को पुकारा, ऐसी बिकलहोके मानो अभी शरीर पातहुआहीचाहताहै।

करुणानिधानप्रभु उसकी वह टेर सुन्तेही पहुँचकर उस बड़भागिन अनुरागिनकी छातीमें आलपटे॥

"शुद्धभाव कन्याकर जाना। आरत वचन सुनत भगवाना॥ प्रेम ते प्रगट भए जगजाना। हरिव्यापक सर्वत्र समाना"॥

"जयजय" की ध्वनि छागई ॥

उसके सब दुःख भागे; आनन्द से अपने ग्राम में आई यहांभी "जय जय" ध्वनि होनेलगी। इसके परमानन्द का कहनाही क्या। "मृतक शरीर प्राण जनु भेटे।"

(२) नृपसुता।

(३५१/८४२) टीका। कवित्त।

सुनो "नृप सुता" बात, भक्ति गात गात पगी, भगी सब विषैवृत्ति, सेवा अनुरागी है। व्याही ही विमुख घर, आयो लेन वहै बर, खरी अरबरी कोऊ चित चिन्ता लागी है॥ करि दई संग; भरी अपनेही रंग, चली अलीहूं न कोई एक वही जासौं रागी है। आयोढिग पति, बोलि कियो चाहै रति, वाकी औरै भई गति, "मति आवौ, बिथा पागी है" ॥ २०१ ॥ (६२९-४२८)

"खरीअरबरी"=शोक से अत्यन्त घबड़ाई ॥

वार्तिक तिलक।

अब उस दूसरी बाई राज-कन्या की वार्त्ता सुनिये। जिसके मन तथा अङ्गअङ्ग में भक्तिका विचित्र रङ्ग छागया था; सब विषयों से उसको तीव्र बैराग्य होगया और उसके मन की वृत्ति श्रीयुगलसर्कार के अनुराग में भलीभांति लग गई। प्रभुकृपा की जय!

उसका विवाह एक हरिविमुख के घर हुआ, सो वह

घर इस अपनी स्त्रीको लेजाने केलिये आया। इस्से यह अति ही चिन्तित हो भारी घबराहटमें पड़गई। उसके साथ वह बिदा करदीगई, कोई सखी भी संग नहीं, वह अकेली अपनेही रंग में रँगीहुई चली। एक थे संग तो श्रीप्रभुप्राणनाथ ही थे कि जिनके प्रेम में वह निमग्न थी; अपनी डोलीही में श्रीठाकुर जी की पिटारी भी सादर रख ली।

मार्ग ही में, जब उसकेपास जाकर पतिने उसकेसाथ वार्त्तालाप तथा प्रीति व्यवहार चाहा, तो वह अत्यन्त घबड़ाके बोली कि "तुम मेरे पास न आओ, मैं बड़ी ही व्यथित हूं"॥

(३५३/८४२) टीका। कवित्त।

"कौन वह बिथा? ताकी कीजियै जतन बेगि, बड़ो उद्बेग, नेकु बोलि सुख दीजियै"। बोलियो जो चाहो, तो पै चाहो हरिभक्ति हिये, बिन हरिभक्ति मेरो अंग जिन छीजियै"॥ आयो रोष भारी अब मन मैं बिचारी, "वा पिटारी मै जु कछु, सोई लैके न्यारी कीजियै"। करी वही बात, मूसि जलमांझ डारिदई, नई भई ज्वाला, जियो जात नहीं; खीजियै॥२०२॥ (६२९·४२७)

"मूसि" = चोरीकरके, चुराके।

वार्तिक तिलक।

पति ने पूछा कि "तुमको व्यथा कौनसी है? बताओ कि उसका प्रयत्न शीघ्रही कियाजावे; मुझे बड़ाही

उद्वेग है, तनक अपने मधुर वचन से मुझको सुखी करो"। इनने उत्तर दिया कि "यदि बोलना बुलाना चाहो तो श्रीभगवान् की भक्ति स्वीकारकरो, नहीं तो मेरा अंग स्पर्श मत करो"। उसको क्रोध आगया। और यह बिचार करके कि "इस पिटारी में जो कुछ है वही बाधक है, उसीको चोरीसे नदी में डाल देना चाहिये" उस दुष्ट ने वैसाही किया; अर्थात् पिटारी छिपाके नदी में डालही दी। अपनी सेवा-मूर्त्ति न देखकर इसके हृदय में नई दाह उत्पन्न हुई, क्रोध तथा अतिशय व्यथा से जलने लगी॥

(२/८ ५/४ ३/१) टीका। कवित्त।

तज्यो जल अन्न; अब चाहत प्रसन्न कियो, होत क्यों प्रसन्न जाको सरवस लियो है। पहुँचे भवन आइ, दई सो जताइ *बात, गात अति छीन देखि, "कहा हठ कियो है?" सासु समुझावै, कछु हाथसों खवावै, याकों बोलिहू न भावै, तब धरकत हियो है। "कहै सोई करैं, अब पाय तेरे परैं हम," बोली "जब वेई आवैं तौही जात जियो है" ॥२०३॥ (६२९-४२६)

*पाठान्तर "जनाइ"।

वार्तिक तिलक।

प्रभु की बिरहिन ने अन्नजल खानापीना तजदिया। अब उस बिमुखराजकुमार ने इसको प्रसन्न करना चाहा,

बहुत प्रयत्न किये, परन्तु जिस्का सर्वस्व ही उसने हर-लिया सो भला कैसे प्रसन्न होती? जब बेसब घर आ-पहुँचे तब पतिने सारी वार्त्ता कह सुनाई। सास तथा और स्त्रियां अनेक प्रकारसे समझाथकीं; और उस्को झटकगईहुई देखकर पूछने लगीं कि "अपने इस हठ का परिणाम तो बता" सास अपने हाथ से उस्को खिलाया चाहती थी; पर इसको किसी की कोई बात भली नहीं लगतीथी, उस्का जी धड़कताथा।

सास कहने लगी कि "हम अब तेरे पांव पड़ती हैं जो कहे सोई करैं।" इसने उत्तर दिया कि जब वेही (प्राणनाथ श्रीठाकुरजीही) मिलैं तभी जीसकतीहूं॥

(२ ८ १ ४ ४ २) टीका। कवित्त।

आए वाही ठौर, भौंर आई, तनु भूमि गिर्‌यो, ढर्‌यो जल नैन, सुर आरति पुकारी है। भक्तिवस श्याम जैसे काम वश कामी नर, धाइ लागे छाती सो जु संग सो पिटारी है॥ देखि पति सासु आदि, जगत विवाद मि-ट्यो "बादही जनम गयो, नेकु न सँभारी है"। किये सब भक्त, हरि साधु सेवा मांझ पगे, जगे कोउ भाग घर बधू यों पधारी है॥२०४॥ (६२९—४२५)

"भौंर" = घुमरी, चक्कर।

वार्त्तिक तिलक।

तब वे उसी नदी के तीर उसी ठिकाने आए कि

जहां पतिने श्रीसेवाकी पिटारी जलमें फेंकदीथी। उस स्थान को देखके जैसा इसका हृदय हो आया उसका अनुकथन विरह रूपी अग्नि से संतप्त प्रेमीही करसकता है। यह चक्कर खाकर धरती पर गिर पड़ी, आंखों से विरह के अश्रु की धारा बहने लगी; बड़े आरत स्वर से अपने प्राणपति भगवान् सिलपिल्ले को पुकार उठी "मिलहु मोहि तुम आइ प्रभु, दयासिन्धु भगवान! दर्शन बिनु तव दासि अब, तजन चहतिहै प्रान॥" करुणाकर श्रीश्याम तो भक्तिप्रिय ऐसे हैंही कि "कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमिदाम," आप उसकी वह आरत टेर सुन्तेही अपनी बिरहिनि वियोगिनि की छाती में पिटारी (सम्पुट) समेत आलिपटे।

"सुनतहि अति आरत बचन, करुणानिधि अतुराइ।
निकसि सरित ते, गोद तेहिं, आलिपटे हरि धाइ॥"

अब कन्या के आनन्द की छाया ऐसी प्रतीत होती है कि "परम रंक जनु पारस पावा। अन्धहिं लोचन लाभ सुहावा॥"

सासु पति आदि सब यहभक्तिप्रभाव देखके दंग होगई। संसार के व्यर्थ विवाद से सब का मन हटा, पछताने लगे कि "श्रीहरिभक्ति बिन जन्म गये, कुछ सँभाला नहीं, हमारे भाग जागे कि ऐसो बधू घर में आविराजी"।

निदान, इसने घरभर को भगवद्भक्त बना दिया। भगवन्त तथा सन्तों की सेवा करके वेसब भवपार होगए ॥

"श्रीसिलपिल्ले"नाम भगवन् का किस वेदमें किस नामावली वा "सहस्रनाम" मेंहै ?उनका किस गंडकीनदी से प्रादुर्भाव हुआथा? और क्या चिन्हचक्र उनमें थे ? वे कब श्रीनारदपंचरात्रि रीति इत्यादि से संस्कृत हुएथे ? पर शुद्ध अन्तःकरण के सत्य प्रेमही ने यह चमत्कार दिखाया। तब, वस्तुतः श्रीशालग्राम जी पर नेम प्रेम से जो श्रीतुलसीदल चढ़ाते हैं, आर्चामूर्त्ति की विधिवत सप्रेम पूजा करते हैं, उनके भाग्य का कहनाही क्या है ?

भक्तोंकेहित जिनने सुतोंको विषदिया वे दो बाई।

(३५५/८४२) टीका। कवित्त।

भक्तनके हित सुत विष दियौ उभै बाई कथा सरसाई, बात खोलिकै बताइयै। भयो एक भूप ताके भक्त हूं अनेक आवैं, आयो भक्तभूप, तासौं लगन लगाइयै॥ नितहीं चलत, ऐपै चलन न देत राजा, बितयो बरष मास कहै "भोर जाइये"। गई आस टूटि, तन छूटिबे की रीति भई, लई बात पूछि रानी, सबै लै जनाइये ॥२०५॥ (६२१—४२४)

"बताइयै" = बताईजातीहै। "लगन लगाइयै" = प्रेमलगनलगायाथा। "भक्तभूप" = सन्तशिरोमणि, भक्तराज।

वार्तिक तिलक।

दो बाइयों ने भक्तों (सन्तों) केलिये, अपने अपने पुत्र को बिषही देदिया; उनकी कथा अति सरस है, सो स्पष्टकरके लिखीजाती है —

(१) एक बाई जी।

एक भक्त राजा था, उस्के यहां सदैव अनेक साधु कृपाकर आया करते थे। एक समय एक बड़े महात्मा भक्तभूप कईमूर्ति संत साथलिए आए; उनमें राजाका बिशेष अनुराग होगया। महात्माजी नित्य वहांसे अन्यत्र चला चाहतेथे, परन्तु राजा नहींजाने देता और कहाकरता कि "महाराज आजरहजाइये, कलभोर जाइयेगा"। योंही एक बरष और एक महीना बीतगया। तब उनसंतने अवश्य प्रभात जानेका निश्चय ही करदिया और अब उनके बिराजने की आशा टूटहीगई, तब राजा ऐसा ब्याकुलहुआ कि उस सन्त बिन उस्के जीनेकी संभावना नहींरही। रानीने राजासे पूछकर सब मर्म जानलिया।

(२५६/८४२) टीका। कवित्त।

दियौ सुत विष रानी, जानी "नृप जीवैनाहिं, सन्तहैं स्वतन्त्र, सो इन्हैहि कैसैं राखियै"। भये बिन भोर, बधू शोरकरि रोयउठी भोयगई रावले मैं, सुनी साधु भाषियै॥ खोलिडारी कटिपट, भवन प्रवेश कियो, लियो देखि बालककौं नीलतनु साषियै। पूछ्यौ भूप तियासौं

जू 'सांच'कहि "कियो कहा ?" कही "तुम चल्योचाहो नैन अभिलाषियै" ॥२०६॥ (६२९-४२३)

"रावले" = अन्तःपुर, रनिवास। "भूपतिया" = नृपवधू, रानी। "सांचकहि" = 'सांच' कहके पूछा, यह कहके पूछा कि "सांच सांच कहो"। "भोय गई" = व्याप गई, छागई, व्याप्त हुई।

वार्त्तिक तिलक।

राजाका जीना असंभव जान, रानी सोच विचार करने लगी; तब अंतरयामी प्रभुने एक अनूठा उपाय उसके मनमें फुराया कि 'उसने अपने पुत्र को विष दे-दिया'; क्योंकि "साधु तो स्वतन्त्र हैंही इनको और किस प्रकारसे अटकारक्खूं" कुछ रात्रि रहतेही रानी रो उठी, अन्तःपुरमें भीतर बड़ा कोलाहल तथा हाहा-कार मचगया। महात्माजीने भी शीघ्रही कटिपट खोल-डाला, रनिवास में प्रवेशकर बात पूछी; लड़केका श-रीर देखा तो प्रत्यक्ष काला होगयाथा! महात्माजीने रानीसे पूछा कि "जी! सच सच कहो कि तुमने यह किया क्या है ?"

रानीने बतादिया कि आपने चलनाही निश्चयकिया, परन्तु हम सब की आंखोंको तो दर्शनकी भारी प्यास बनीहीहै, तृप्ति हुईही नहीं॥"

(दो०) "महाराज! तव गवन सुनि, जानि भूप तनु नाश।
मैं दै दीन्ह्यों सुत गरल, सन्त करैं जेहिं बास॥"

(३५७/८४२) टीका। कवित्त।

छातीखोलि रोए किहूं बोलिहूं नआवै मुख, सुख भयो भारी, भक्तिरीति कछु न्यारीयै। जानी ऊंन जाति, जाति पांति को विचार कहा, अहो रस सागर सो सदा उरधारीयै ॥ हरिगुण गाय, साखी सन्तनि बताय, दिये बालक जिवांय, लागी ठौर वह प्यारीयै। संगके पठाय दिये, रहे वे जे भींजे हिये, बोले आप "जाऊं जौनमारि के बिडारीयै" ॥ २०७ ॥ (६२१-४२२)

"रहे वे जे भीजेहिये"=वेहीसंत यहां रह गए कि जिनके हृदय श्री भगवान् के प्रेम रस से भीगे थे निरस शुष्क न थे।

वार्तिक तिलक।

सन्त महात्माजी छाती खोलके ऊंचे स्वरसे रोनेलगे; इसप्रेमिन का आश्चर्य कर्म देख आप को प्रेम-जनित आश्चर्य ही दुख हुआ, यहांतक कि मुंह से स्पष्ट बात भी नहीं निकलतीथी; परन्तु साथसाथ इसकी लोकोत्तर अनूठी प्रेमाभक्ति की कुछ न्यारीही रीति विचार के हृदय में अतिही आनन्द हुआ।

भक्तराजाजी जातिमें क्षत्रीसे कोई न्यूनहीथे यह बात सन्तने जानी, पर विचार किया कि "मैं इनमें जातिपांति का विवेक क्या करूं; येतो राजारानी दोनों भगवतप्रेम का समुद्रही हृदय में धारण किये हुए हैं, इस्से ये प्रेमरूपही हैं।

अपने संगके संतों को बुलाके साक्षी करके, श्री

भगवान् के अमृतरूपी गुणगाए, यहांतक कि श्री भगवत-कृपासे मृतक बालकको जिलाही दिया। तब श्री सीताराम नाम तथा यश की "जय जय" कार हुई।

महात्मा जी को उस भक्त का स्थान अति प्रिय लगा, जितने सन्त साथमें थे उन सब से कहा कि "आप लोग जाइये, मैं यहांही रहूंगा" वे प्रायः सब चलेगए। केवल ऐसे ऐसे कई भक्तसन्त कि जिनके अन्तःकरण रूपीवस्त्र प्रेमरङ्ग से रङ्गे थे, वे यह कहतेहुए कि "जो आप मारके भगाइये तो भी आपको छोड़के यहां से हम जानेके नहीं," प्रेममें बँधके रहगए ॥

(२) दूसरी बाई जी ॥

(२५६/८४२) टीका । कबित्त ॥

सुनौ चित्तलाइ बात दूसरी सुहाइ हिये, जिये जग माहिं जौ लौ, सन्त संग कीजियै। भक्त नृप एक, सुता ब्याही सो अभक्त महा जाकेघर मांझ जन नाम नहीं लीजियै॥ पल्यो साधुसीत सौं शरीर, दृग रूपपले, जीभ चरणामृत के स्वादही सों भीजियै ॥ रह्यो कैसें जाय अकुलाय न बसाय कछू "आवैं पुर प्यारे तब विष सुत दीजियै ॥" (६२९–४२१)

"नहिंलीजियै" = नहींलेताथा। "भीजियै" = भीगा हुआथा, भींजा रहाकरताथा,।

"जन" = "प्यारे" सन्त, हरिजन।

वार्तिक तिलक।

अब उस दूसरी भागवत-भक्ता बाई की वार्त्ता जो

कि सुननेसे अतिप्रिय लगैगी सो चितलगाके सुनिये; देखिए, इसने सन्तसेवा दर्शनके लिए कैसा विलक्षण यत्नकिया। इस्से सज्जनोंको उचितहै कि जबतक जगत में जियैं तब तक अवश्य सन्तों का संग करैं॥

एक भक्तराजा साधुसेवी था; उस्की लड़की ऐसे हरि-विमुख केसाथ ब्याहीगई कि जिस्के घरमें सन्तभगवज्जन का नाम भी कोई नहींलेता वा जानताथा। इस भक्तराजकन्या का शरीर तो साधुओंकी सीतप्रसादी (जूठन) से पालाहुआथा, और आखें सन्तोंके रूपके दर्शनोंकी पलीथीं, तथा इस्के रसनाको भगवत और सन्तचरणामृतके रसकीही रसज्ञता थी, सो इस्के श्वसुरालयमें यह सब अतिही दुर्लभ था, तब इस्से रहा कैसे जाता, अत्यन्त व्याकुल रहाकरतीथी "कोउ दुख दुसह दुखद न कठिन ऐसो, जैसो कहूं छिनक विमुखसँग रहिबो"॥ कुछबस नहींचलताथा। एकदिन श्रीसीता रामजी के स्मरणपूर्वक बिचार करनेसे इस्को यह फुरा कि "जब हरिप्यारे संत इस ग्राममें आवैं तब मैं अपने पुत्रको विष देदूं।" * यह निश्चयकर इसने अपनी लौंडी से यह कहरक्खा कि "जब इसग्राम में साधु आवें तब मुझसे कहियो"॥

*इसीसे कहाहै (पृष्ठ ४१ कवित ८) कि "बिना भक्तमाल भक्ति रूप अति दूर है"॥

(६५६/७३३) टीका। कवित्त।

आए पुर सन्त आइ दासी ने जनाइकही, सही कैसे जाइ, सुत विष लैके दियोहै। गए वाके प्राण, रोय उठी किलकानि, सब भूमि गिरे आनि, टूक भयो जात हियो है॥ बोली अकुलाय "एक जीवे की उपाय, जौपै कियो जाय, पितामेरे कैयोबार कियोहै"। "कहै सोई करें" दृग भरें "ल्यावो सन्तनि कौ", "कैसे होतसन्त ?" पूछ्यो; चेरी नाम लियोहै ॥२०१॥ (६२९–४२०)

"नाम लियोहै" = वाह्य चिन्ह आदि बतादिये।

वार्त्तिक तिलक।

रामकृपासे गांव में साधुओं का एक वृन्द आ उतरा; सो टहलनीने आके इस भक्तिवती को जनाया। तब जो पूर्वमें कह आए कि यह बाल्य अवस्थाही से सन्तों का दर्शन चरणामृत आदिक सप्रेम लेरहीथी सो उसके वियोगकी पीड़ा अब इससे कैसे सहीजाय। इसलिए इसने अपने बालक को विष देदिया; वह मरगया; तब सब रो उठीं; हाहाकार मचगया; राजा के सहित सब मूर्छित हो भूमिपर गिरे; सबके हृदय टूकटूक हुए जाते थे। तब भक्ताबाई अकुलाके बोली कि "पुत्र के जी उठनेका एक उपाय है जो आप सब कीजिये, क्योंकि मेरे पिता ने कई बेर यही उपाय कियाहै सो सफल हुआ है मैंने प्रत्यक्ष देखाहै"। राजा और सबोंने आंखोंमें आंसूभरे हुए, रोरोके, कहा कि "जो तू कहे सोई उपाय

करैं" इसने कहा कि "सन्तोंको शीघ्र ढूंढ़के बुलालाइये"। उनने पूछा कि "सन्त कैसे होते हैं?" ॥

दासी ने सन्तों के बाह्य चिन्ह कह सुनाए; और यह भी बताया कि अमुक ठिकाने आज बहुतसे साधु लोग आ उतरेहैं ॥

(२१०/८४२) टीका। कवित्त।

चली-लैलिवाय चेरी, बोलिबौ सिखाय दियो "देखिकै धरनिपरि पायँ गहिलीजियै"। कीनी वहीरीति, दृग-धारा मानौ प्रीति सन्त करी यौं प्रतीति "गृह पावन कौ कीजियै" ॥ चले, सुखपाय दासी आगेहीं जनाई जाय, आय ठाढ़ी पौरि, पायँ गहे, मति भींजियै। कही हरें बात "मेरे जानौं पितामात मैं तौ अंग मैं न माति आज, प्राण वारिदीजियै" ॥२१०॥ (६२९—४११)

"पौरि" = रनिवास की डेवढ़ी। "मतिभींजियै" = बुद्धि प्रेममें पग गई। मति प्रीति रङ्ग से भींजी हुई। "हरें" = धीरे, धीमेस्वर से। "न माति," = नहीं समाती थी, अँटती नहींथी, अमाती नहीं।

वार्त्तिक तिलक।

जहां सन्त उतरेथे, टहलनी वहां राजा को लिवा-लेचली; मार्गमें यहभी बतादिया कि सन्तों से बातें-करनेकी रीति ऐसी होतीहै, तथा यह भी कि "लम्बी दण्डवत करके चरणारविन्द पकड़ लीजियेगा"; क्योंकि यह दासी इसके पिताही के घर की थी जहां संतसेवा होती थी। उनने वैसाही किया।

राजाके नेत्रों में जो पुत्रमरण के दुःखसे आंसूओं की धारा बहतीथी, सो सन्तों ने यही प्रतीति की कि 'हमारेही प्रेम से अश्रु बहते हैं'। राजा ने हाथ जोड़ के सन्तों से प्रार्थना की कि "अपने पदरज से दासके घरको पवित्र कीजियै" सन्त कृपाकर सुखपूर्वक चले; तब चेरीने हर्षित होके आगेही जाके संतोंके आनेका समाचार कहा; अगुवानी के लिये भक्ताबाई अपनी डेवढ़ी पर आके खड़ी हुई; साधुओंके पधारतेही चरण-कमलोंपर गिरपड़ी; प्रेमाश्रु की धारा आंखोंसे बह चली, प्रेमरससे मति भींजगई। हाथजोड़ सन्तोंसे धीरेसे कहने लगी कि "मैंतो अपने पितामाता परमहितकारी संतोंही को जानतीहूं; मैंतो आज हर्ष से फूली अपने शरीर में नहीं अंटती हूं; जी चाहताहै कि आपसब पर प्राण न्योछावर करदूं ॥"

(२६१/८४२) टीका । कवित्त ।

रीझिगए सन्त, प्रीति देखिकैं अनन्त, कह्यो "होइगी जु वहीसो प्रतिज्ञा तैं जो करी है"। बालक निहारि, जानी विष निरधार दियौ, दियौ चरनामृत कौं, प्रानसंज्ञा धरी है॥ देखत, विमुख जाय 'पाय ततकाल लिये, किये तब शिष्य, साधु सेवा मति हरी है। ऐसें भूप नारि पति राखी सब साखी, जन रहैं अभिलाखी जो पै देखौ याहीघरी है ॥२११॥ (६२९-४१८) ॥

"निरधार" = निश्चय । "पायलिये" = चरणपड़े ।

वार्त्तिक तिलक।

इस भक्ता बाई (रानी) की अपारप्रीति देख, साधुलोगों ने बहुत रीझके कहा कि "तुमने अपनेमनमें जो प्रतिज्ञा कीहै सोई ठीकहोगा" (क्योंकि इसके श्रद्धा विश्वास बश श्रीरामकृपासे वैसेही पूरे सन्त भी प्राप्त हुए थे;) फिर बालक कीओर देख यह निश्चय जाना कि इसको विष दियागयाहै, सन्तोंने कृपाकरके भगवत और संतोंका (अपना) चरणामृत उसको पिलाया। अकालमृत्युहरण चरणामृत देते ही श्रीयगलसर्कारकी कृपासे बालकके प्राण पलटआए और चैतन्य होगया।

(श्लोक) अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनं।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा शिरसा धारयाम्यहम्॥

(दो०) धन्यसन्त जहँ ' ' फिरैं,तहँ तहँ करत निहाल।
"चरणामृत मुख डारिकै, फेरिजियायो बाल॥"

जयजयकार शब्द के साथ मातापिता आदिक सब अति हर्षको प्राप्तहुए; और राजा जो इसबालक का पिता था उसके सहित सब भक्तिविमुख लोग तुरतही साधुओंके पावोंपर यह विनय करते हुए गिरे कि "हमको अब शरणदीजिये"। श्रद्धा देख संतोंने उन्हे शिष्यकिया॥

तदनंतर राजा प्रत्यक्ष परचो देख सबसंतों की इस प्रकार सेवा कियाकरता कि जिसको देख सबकी मति हरजातीथी।

जो श्रीनाभास्वामीजी ने इस छप्पै में "भूपनारि प्रभु राखिपति" लिखा है, सो इस प्रकार प्रभुने इस-भक्ता रानी की लज्जा प्रतिज्ञा रखली; उस्के सब सज्जन साक्षी हैं ॥ सो जो कदापि और किसी को ऐसी भक्ति की अभिलाषा हो, तो जैसे इसकी इसीघड़ी अभिलाषा पूरी हुई, वैसीही पूर्ण होगी ॥ लोक में रीति है कि जब तत्काल देख लो तथा परचो से तोष को प्राप्त हो, तो सब जनों की अभिलाषा सन्तों में बढ़ती है ॥

(१/८ १/१ २/२) छप्पै ।

आशै अगाध दुहुँ[२] भक्त को, हरि-तोषन अतिशै कियो ॥ "रङ्गनाथ" को सदन करन बहु बुद्धि बिचारी। कपट-धर्म रचि जैन-द्रव्यहित देह बिसारी॥ हंस[३] पकरनें काज बधिक बानों धरि आए। तिलक-दाम की सकुच, जानि तिन, आप बँधाए ॥ सुतबध हरिजन देखिकै, दै कन्या, आदर दियो[४]। आशै आगाध दुहुँ भक्त को, हरितोषन अ-तिशै कियो ॥४६॥ (५'/२११)

"तिलक दाम" = ऊर्द्ध्वपुण्ड्र और भागवती कण्ठी माला, । "आशय-अगाध" = अथाह अभिप्राय। "रचि" = वेष बनाके ।

"बानौं" = भगवतवेष

वार्तिक तिलक ।

(३१२) इन मांमाभानजे दोनों भगवद्भक्तों के भाव भक्ति का अभिप्राय अति अथाह था कि जिस अपनी भक्तिभावसे अपने वर्णधर्म तथा प्राणपर्य्यन्त अर्पण करके श्रीभगवान को इनने अतिशय प्रसन्न किया; किस प्रकारसे सो कहते हैं–

श्रीरंगनाथ जी के विराजने के लिये श्रीविग्रह के अनुरूप बड़ाभारी मन्दिर बनवाने के लिये द्रव्य मिलने के हेतु बुद्धिमें बहुत प्रकार के उपाय विचार किये निदान कपटसे जैनधर्मियोंके शिष्य हो उनका वेष धारणकर अपने शरीरप्राणपर्य्यन्त की ममता छोड़के पारस द्रव्य ले मन्दिर बनवाया ।

(३१४) इसीभांति, हंसभक्त तथा वैश्यभक्त इन दोनों की भक्ति का भी आशय वैसाही अगाध था; उन्होंने भी हरि की अति प्रसन्नता प्राप्त की । हंसों के पकड़ने केलिये व्याधासब सन्त का वेष धरके आए; तिलककण्ठी माला के संकोच से बधिकों का कपट जानकर भी हंसों ने अपने प्राणोंका लोभतज अपनेतईं बँधवालिया । और, सदाव्रती-वैश्यभक्त भागवतवेषधारी लोभी को जाना और देखा कि इसने मेरे पुत्र को मारही डाला है परन्तु अब शोकयुक्त है, इससे उसको अपनी कन्या विवाहकर आदर दिया । इसप्रकार इन चारो भक्तों

की भक्ति अथाहहै कि जिस्में बड़े बड़े भक्तों का मन डूबजाताहै ॥

१. मामू ।	३. हंस भक्तों का जोड़ा ।
२. भानजा ।	४. सदाब्रती साहूकार ।

मामां भानजा ।

(२१३/८४२) टीका । कवित्त ।

आशय अगाध दोऊ भक्त मामा-भांनजे की, दियौ प्रभु तोष,*ताकी बात चितधारियै । घरतें निकसि चले बनको विवेक रूप; मूरतिअनूप बिनमन्दिर निहारियै ॥ दक्षिण मैं "रङ्गनाथ" नाम अभिराम जाकौ, ताकौ लै बनावैं धाम, काम सब टारियै । धन के जतन फिरे भूमिपै, नपायौ कहूं, चहूं दिशि हेरि, देख्यो, भयो सुख भारियै ॥२१२॥ (६२९—४१७)

*पाठान्तर "पोष" ।

"धाम" = मन्दिर । "भूमिपर" = अनेक स्थानों में, बहुत जगहों में ।

वार्तिक तिलक ।

जो नाते में मामू भानजा होतेथे, उनदोनों महाभक्तों की भक्ति का अभिप्राय अथाह था; जिस तत्सुखात्मक प्रेमा भक्ति से श्रीभगवत को भी इनने सन्तुष्ट किया; सो वार्ता सुनके चित्त में रखलीजिये ।

श्रीरामकृपासे विवेक उत्पन्नहुआ इस्से असार संसारसे विरक्त हो, घर त्यागके, भजनकरनेके लिये दोनों ही बनको पधारे; दक्षिणमें एक ठिकाने, जहां श्री

श्रीविभीषणजी श्रीअयोध्याजी से लेजाकर पधरा गए थे, वहां "श्रीरंगनाथजी" नामक ठाकुरजी की अतिअभिरामविशाल मूर्त्ति बिना-मन्दिर-की देखकर जीमें ऐसी अभिलाषा हुई कि "अब और सब कार्य्य छोड़के इन का मन्दिर बनवावैं"। इसलिये बहुतसे द्रव्य के हेतु पृथ्वीपर अनेक देशोंमें चारो ओर फिरे; पर कहीं न पाया। ढूंढ़ते ढूंढ़ते अन्तमें एक अटूट द्रव्य देखकर इनके हृदय में बड़ाभारी आनन्द हुआ॥

(२६४/८४२) टीका। कवित्त।

मंदिर सरावगी को, प्रतिमां सों पारस की, आरसन-कियो वेद न्यून हूँ बतायो है। "पावैं प्रभु सुख, हम नर्कहूँ गये तो कहा?" धरक न आई! जाय कानले फुकायो है॥ ऐसो करी-सेवा, जासों हरीमति केवरा ज्यौं, सेवरा-समाज सबै नीके कैं रिझायो है। दियो-सौंपि भार, तब लैबे को बिचार करैं "हरैं कौन राह?" भेद राजनिपैं पायो है॥२१३॥ (६२९—२१३ = ४१६)

"सेवरा" = "सरावगी," बौद्ध, जैनी, जैन। "आरसन" = दरसपरस, दर्शन स्पर्श। "धरक" = शंका, धड़क। "केवरा" = केवड़े का फूल। "राह" ४।, मार्ग, मग, पंथ

वार्तिक तिलक।

वह अटूटधन क्या है सो कहते हैं, एक नगरमें देखा कि सरावगियों का बड़ाभारी मन्दिर है; उसमें पारसनाथ की प्रतिमा पारस कीही है ("पारसनाथ–मूर्त्ति

पारस की") जिस्की प्रतिमाका दर्शन स्पर्श करना भी वेद ने अति न्यून * (बड़ापाप) बताया है।

*"गजैरापीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरे"।

नितान्त, दोनों भक्त मनमें विचारकर आपसमें निश्चयकर कहनेलगे कि " सुन्दर मन्दिर बने, तथा उस्में विराजके प्रभु सुखपावैं, सो भला है; और हम यह न्यून कर्म करनेसे नरक में जांगे तो क्या चिन्ता है"। यह मनमें दृढ़कर बेधड़क जा कानफुंकाके उनका मन्त्र ग्रहणकर उनके शिष्य हो, ऐसी सेवा की, कि उन सबकी मति इस प्रकारसे हरली कि जैसे केवड़ा * के पुष्पको सूंघनेसे मन हर-जाता है।

* सेवरा वा सेवड़ा के अनुप्रास के लियेही केवरा वा केवड़ा लाये हैं।

यहां तक कि सेवापूजा का सम्पूर्ण भार उनने इन्हीं को सौंप दिया।

तब पारस लेने का विचार करने लगे कि"इसको किस मार्ग से हरलें?" क्योंकि उस मन्दिर में भीतर जाने का द्वार नहीं रक्खागया था, केवल हाथडाल के सेवापूजा करलेने मात्र को, और दर्शन करलेने को, अवकाशमार्ग था। तब दोनों ने राजों (थवइयों, मिस्त्रियों) से युक्तिहीयुक्ति यह भेद लिया कि 'मन्दिर के ऊपर से मार्ग है'॥

(२६५/८४२) टीका। कवित्त।

मामा रह्यो भीतर, औ ऊपर सो भानजी हो, क-

लस भँवरकली हाथसों फिरायो है। जेवरा ले फांसि दियो मूरति, सो खैंचि लई, औरबार वह आप नीकें चढ़िआयो है॥ कियोहो जो द्वार तामैं फूलि तन फँसि बैठ्यौ, अतिसुख पाय, तब बोलिकै सुनायो है। "काटि-लेवो सीस, ईश भेष की न निंदाकरैं," भरैं अँकवारि, मन कीजियो सवायो है ॥२१४॥ (६२९—२१४=४१५)

"भँवरकली" = पेच, कल।

वार्तिक तिलक।

मन्दिरके ऊपर जाके कलसमें जो भँवरकली थी, उस भँवरकली को दोनों भक्तों ने हाथों से घुमाकर अलग कर दिया; इस्से उस्मे इतना अवकाश-मार्ग हो गया कि जिसमें होके सामान्यशरीरवाला मनुष्य आजासके (पर मोटा नहीं)। तब उन्होंने उसीमें एक मोटासा रस्सा छोड़कर ऊपर बाँधदिया; उसी को पकड़ मामा भीतर चलागया, भानजा ऊपर रहा। मामू ने पारसवाली मूर्त्ति को बस्त्रमें गठियाके उसी रस्सेमें बांध-दिया, और भानजेने उसे खींच-लिया। गठरी को रस्सी में से खोल, फिर (और बार) वह रस्सी भीतर छोड़दी गई, जिसे पकड़के वे (मामाजी) आप भली-प्रकार-से चढ़ आए। जब उस छोटे द्वारमें आधा शरीर निकलचुका तब मामाभक्त जी को अतिशय हर्ष और सुख प्राप्त हुआ कि जिसहर्षसे उनका शरीर फूलकर उसी बिलमें फँसबैठा (फंस गया), न इधर सरके न उधर।

मामू ने भानजेसे कहा कि "मेरा सीस काटलो, जिस्में सेवड़े लोग वैष्णव वेष की निन्दा न करैं, क्योंकि हम दोनों (मैं और तुम) वैष्णव वेष धारण किये ही इनसबके हां आके शिष्य हुए थे।" तब भांजा अँक-वारभरके मामाजी को अपने बलभर खींचके निकालने लगा; परन्तु आपके मनमें सवाया आनन्द बढ़ताही जाताथा इस्से शरीर फूलके निकल नहीं सका।

($\frac{२६६}{८४२}$) टीका। कवित्त॥

काटिलियो सीस, ईस-इच्छाकौ विचारकियौ, जियौ नहींजात तऊ चाह मतिपागी है। "जीपै तन त्याग-करौं, कैसें आस-सिन्धु तरौं? ढरौं वाही ओर;" आयो; नींव चुर्दैलागी है॥ भयौ शोक भारी, "हमैं ह्वैगई अ-बारी, काहू औरनैं बिचारी," देखैं वही बड़भागी है। भरिअँकवार मिले, मंदिर सँवारि, झिले, षिले सुखपाइ नैन, जानै जोई रागी है॥२१५॥ (६२९—२१५=४१४)

"झिले" = दौड़े,लपके।

वार्तिक तिलक।

जब भानजे के खींचनेसे मामाजी नहीं निकल सके, तब फिर आपने भानजेसे कहा कि "मेरा सीस काट-हीलो"।(दो०) "हरिमन्दिरकेहेतु जो, लागै मोर शरीर।

तो यामें कछु सोचनहिं, कछुन मानिये पीर॥"

ऐसे प्राण समर्पण-रूप सच्चे वचन सुन, ऐसी ही सर्कारी इच्छा विचार, भानजेने मामूके कहनेके अनुसार

शस्त्र से सीस काटही लिया। और पारस तथा वह सीस लेके वहांसे चम्पत हुआ। इनने सीस को तो कहीं योग्यस्थलमें डालदिया; परन्तु परमभक्तमामू के वियोगसे इनको जिया नहींजाता था, जीने की इच्छा नहीं होतीथी, तथापि प्रभुके मन्दिर बनवाने की चाहमें मतिपगरहीथी; इससे विचार किया कि "यदि मैं शरीर को त्यागदूं तो श्रीप्रभुमन्दिर के बनने की जो मेरी समुद्रवत आसा है उसके पार कैसे पहुंचूंगा, अतः वहांही चलूं"।

ऐसा निश्चय कर श्रीकावेरी गंगाके निकट जहां श्रीरंगनाथजी कीमूर्त्ति थी, वहां आके देखते क्या हैं कि बड़ेविस्तार के मन्दिर की नीव खुदवाने में कोई तत्पर है। उसको देख इनके मनमें बड़ाभारी शोक इसलिये हुआ कि "हमको बहुतदिन लगगए अतिबिलम्ब होगया! इसी कारण से किसी दूसरेने मन्दिर बनवाना प्रारंभ कर दिया।" समीप जाके देखें तो वेही, बड़े भाग्यशाली मामाभक्तजीही, *यह नींव खोदवा रहे हैं। दोनों को परस्पर के दर्शन से कोई अभूत ब्रह्मानन्द हुआ और दोनोंके नेत्रकमल परम प्रफुल्लित हुए; झिलके (दौड़के) आपसमें भुजा भरभरकर मिले। इनदोनों अनुरागी भक्तों के मिलने का अपूर्व सुख वेही जानैं; वा वह जाने जिसको इस अनुराग का अनुभव है।

दोनों ने मिलके श्रीरंगनाथजी का सप्तावर्ण-युक्त "रङ्गविमान" संज्ञक महामन्दिर बनवाया कि जिस्का दर्शन करके अद्यापि सब बड़भागियोंको बड़ा आश्चर्य और अपूर्व आनन्द होता है ॥

* आपकी आत्मनिवेदन भक्तिसे, तथा भानजेके सर्वधर्मार्पण भक्तिसे, संतुष्ट होके सर्व जगत्कर्त्ता ने मामूभक्त का वैसाही दूसरा स्वरूप निर्माण करके और बहुत द्रव्य देके यहाँ उपस्थित कर दियाथा ।

हंस भक्तों का प्रसंग ।

(२/८ ६/४ ७/२) टीका । कवित्त ।

कोढ़ीभयो राजा, किये जतन अनेक, ऐपै एकहूं न लागै, कह्यो "हंसनि मंगाइये" । बधिक बुलायकही बेगही उपायकरी, जहां-तहां ढूंढ़ि अहो इहां लगि ल्याइये" ॥ "कैसेकरि ल्यावैं ? वैतो रहैं मानसर मांझ," "ल्याओगे, छुटौगे तब, जनैं चारि जाइये" । देखतही उड़िजात, जातिको पिछानिलेत, 'साधुसों न डरैं' जानि भेष लैबनाइये ॥२१६॥ (६२९—२१६ = ४१३)

वार्तिक तिलक ।

किसी देश का बड़ाभारी राजा कोढ़ी होगया था, वैद्योंने उस्के अनेकप्रकार के यत्न किये, परन्तु कोई सफल नहीं हुआ; तब वैद्यों ने कहा कि "हंस मँगाइये उस्की औषधि बनाईजागी, उस्से आप अवश्य अच्छे होजांगे" । राजाने बधिकों को बुलाके आज्ञादी कि "जाके जहां मिलें वहांसे हंस लाओ, बेगिही उपायकरो"

बधिक बोले "महाराज! हंसोंको किसप्रकारसे लावें? वेतो 'मानससरोवर' ही में रहतेहैं"। सुनकर राजा ने कहा कि "चार जने जाके किसीभांति लाओ, बिना-लाए तुम्हारे प्राण नहीं बचनेके"।

हिम (पाला) से बचने योग्य वस्त्र चर्मादिक पहिन ओढ़के वे व्याधा मानससर को गए। परन्तु हंस पक्षियों के जोड़े, इनसब को देखतेही, व्याधा जानकर, उड़जाया करते थे। बुद्धिमानों ने बताया कि "हंस वैष्णव सन्तों सेही नहीं डरते" तब बधिकोंने वैष्णव सन्तोंका वेष धारण करलिया॥

(२६८/८४२) टीका। कवित्त।

गए जहां हंस, संत-बानौं सो प्रशंस देखि, जानिके बँधाये; राजापास लेके आये हैं। मानि मत सार, प्रभु बैद-को-सरूप धारि, पूछिकै बजार, लोग भूप-ढिग ल्याये हैं॥ "काहेको मँगाये पच्छी? अच्छी हम करैं देह, छोड़ि दीजे इन्हैं", कही "नीठकरि पाये हैं"। औषदी * पिसाये, अंग अंगनि मलाये, कियेनीके, सुख पाये, कहि उनको छुटाये हैं॥२१७॥ (६२९—२१७=४१२)

"नीठकरि" = कठिनतासे, बड़ी मुश्किल से। "बजार" = بازار बाज़ार, हाट। * पाठान्तर "औषधी"।

वार्तिक तिलक।

बधिक सन्तों-का-वेष बनाके मानससरमें हंसोंके निकट गए; हरिभक्त विवेकी हंसोंने जान लिया कि

'ये बधिक हैं, पर परम प्रशंसनीय वैष्णववेष बनाके आए हैं; इस लिये इस वेष के सनमानार्थ अपनेतईं बँधाही लेना चाहिये।' (दो०) हंस कहै "सुनु हंसीनी! सुनो पुरातन बात। साधुनिकट नहिं जात तौ बाना की पति जात" ॥ इस्से वे उड़े नहीं।

बधिक इनको पकड़कर राजा के पास लेआए। गुणग्राहीहंसोंने कपटरूपी नीर छोड़के सन्तवेषरूपी क्षीर उनकाग्रहणकिया।

श्रीभक्तवत्सलप्रभुने हंसोंका मत भक्तिसारांशयुक्त जाना कि 'इन्होंने मेरे दासोंके वेषका यहांतक सन्मान किया कि नीचबधिकोंके शरीरमें भी केवल बनावट मात्र देखके अपने शरीर और प्राण अर्पण करदिये,' इसीसे उसीक्षण आपने वैद्य का स्वरूप धारणकर, उस नगर के हाट में आ, लोगों से अपना यह गुण प्रगट किया कि "मैं कुष्ट रोग विशेष करके अच्छा करदेताहूं!" लोग आपको राजाके पास लाए। वैद्यजी ने राजासे कहा कि "आपने इन हंसोंको किसलिये मँगायाहै? इनको छोड़दीजिये, मैं आपका शरीर अभी अभी अच्छा किये देता हूं"। राजाने कहा कि "मैंने इन्हें बड़ी कठिनतासे पायाहै, योंही कैसे छोड़दूं?"

वैद्यजी ने औषधि पिसवाके राजाके सब अंगोंमें लेपकराकर बातकीबात में चंगा कुन्दन सा शरीर कर दिया। राजाने अत्यन्त सुखपाया। आपने राजा से कहके हंसभक्तों को छुड़वादिया॥ श्रीकृपाकी और वैष्णव-वेष की जय॥

(२६९) टीका । कवित्त । (८४२-२६९ = ५७३)

"लेवौ भूमि गांउँ, वलिजाउँ या दयालता की, भाल भाग ताकैं जाकौं दरसन दीजियै"। "पायो हम सब, अब करौहरिसाधु-सेवा;मानुष-जनम,ताकी सफलता कीजियै"॥ करी लै निदेस, देस भक्ति बिसतार भयो; हंस हित सार जानि, हिये धरिलीजियै । बधिकनि जानी 'जासें खगनि प्रतीति कीनी, ऐसी भेष छोड़ियै न, राख्यौ, मति भीजियै ॥२१८॥ (६२९-२१८ = ४११)

वार्तिक तिलक ।

राजा अपना नवीन जन्म जान श्रीवैद्यनारायण के चरणोंमें पड़के प्रार्थनाकरनेलगा कि "आपकी दयालुता की मैं बलिहारी जाऊं; आपने हंसोंके प्राण और मुझको हिंसासे बचाके मुझे चंगा कर दिया; जिसको आप कृपाकर दर्शन दें उसके भाल में बड़े-भाग्य-लिखे जानना चाहिये, अब मुझपर कृपाकर जितनी इच्छा हो उतनी भूमि वा गांवँ लीजिये"। वैद्यरूपी प्रभु बोले कि "मैं सबकुछ पाचुका; अब मैं यही चाहताहूं कि 'तुम भगवान् की भक्ति पूजा तथा सन्तों की सेवा कर, अपने मनुष्य जन्म को सफल करो"। (चौ०) वैद्यरूप हरि अस कहि बैना । पुनि कह "तोहि यम की अब भय ना ॥" यह कहके प्रभु अन्तर्धान होगए ।

राजा ने आपका उपदेश मान, वैसाही किया कि अपने देश भरमें भक्ति का विस्तार कर दिया ।

देखिये, हंसोंने श्रीभागवतवेष का ऐसा आदर किया, तो उसी क्षण प्रभुने प्रगट होकर हंसों के प्राण बचाए, यश दिया, और भक्तिमुक्ति दी। इस सारांश को अपना हित मानकर सबको अपने हृदय में धारण करना चाहिये कि गुण और सार ग्राही हंसो ने बधिक-कपट रूपी नीर छोड़ कर सन्तवेष रूपी क्षीर को ग्रहण किया।

प्रभुकृपासे बधिकों को भी यह ज्ञान हुआ कि "जिस-वेष में खग जाति हंसोंने भी हमारी प्रतीति की, ऐसा वेष हम न छोड़ैं"। ऐसा विचार, बधिक दुष्टव्यापारतज वेष धारण कियेही रहे, साधु संग में उनकी मति भी भक्ति रस में भींगगई और उनका परम कल्यान हुआ॥

सदाव्रती महाजन।

(२७०) टीका। कवित्त। (८४२-२७० = ५७२)

महाजन सुनो सदाव्रती ताको भक्तिपन, मन मैं बिचार, सेवाकीजै चितलायकै। आवत अनेक साधु निपटअगाध-मति, साधिलेत जैसी आवै सुबुधि मि-लाय कै॥ संत सुखमानि, रहिगयो घरमाँझ, सदा सुत सो सनेह नित खेलै संग-जायकै। इच्छा भगवान, मुख्य, गौन लोभ जानि, मारि डार्यो, धूरि गाड़ि, गृहआयो पछितायकै॥२१९॥ (६२९—२१९ = ४१०)

"सदाव्रती महाजन" = वैश्यसेठ कि जिसका व्रत यह था कि सन्त ब्राह्मणोंको सदा दिनरात भोजन देना।

वार्त्तिक तिलक।

हे महज्जनो! सदाव्रती महाजनकी भक्ति की कथा सुनिये। श्रीगुरुउपदेश से इनने मनमें विचार किया कि "मैं चित्तलगाके सन्तों की सेवा कियाकरूं" सोआप ऐसा ही करनेलगे; इस्से इनकेहां अनेक प्रकारके साधु आया करतेथे; ये भक्तजी ऐसे अतिशय अगाधमतिवाले थे, कि जिस प्रकारके सन्त होते वैसीही सुबुद्धिसे उनकी सेवा साधलिया करते थे। एक समय एक सामान्य साधु-वेष-धारी आया, और खानपान का सुख पाके आपके घर में रह गया। भक्तजी के एक छोटासा बालक था, जिस्को इसके साथ स्नेह था, और इसके साथ जाके खेलाकरताथा।

एकदिन इस साधु की मति भ्रष्ट होगई उस्में मुख्य तो भगवत की इच्छा (भक्तसुयश तथा सन्तमहिमा प्रगट करने के हेतु) जानिये, और गौण कारण लोभ कि जिस्के बश भूषण लेलेने के लिये उस बालक को उसने जीसे मारकर धूलमें गाड़दिया। और फिर मन-ही-मन-में पछताताहुआ घरमें चलाआया॥

(२७१) टीका। कवित्त।(७४२—२७१ = ४७१)

देखै महतारी मग, बेटा कहां रह्यो पग? बीते चारि जाम, तऊ धाम मैं नआयोहै। फेरी पुर डौंडी; ताके संग संत, आप, लौंडी, कह्यो यों पुकारि "सुत कौने

बिरमायो है ?॥ बेगि दै बताय दीजै आभरन दिये लीजै;"
कही सें संन्यासी एही मास्यो, मन लायो है । दई ले
दिखाय देह; बोल्यौ "याको गहि लेहु, याही नै हमारो
पुत्र हत्यौ, नीके पायो है" ॥२२०॥ (६२९–२२० = ४०९)

"कहां पग रह्यौ?"=किसके प्रेम में अरुझ रहा ?

वार्तिक तिलक ।

उस लड़के की माता उस्के आने का पन्थ देख रहीथी सोचतीथी कि "बेटा कहाँ अँटक रहा ?" चार पहर बीतगए पर अभीतक घर नहींआया ! साँझ समय वह महाजन उस सन्त और लौंडी इत्यादि को साथलिये ग्राम भर में यह पुकरवाता हुआ डौंडी फिरवानेलगा कि "पुत्रको किसने अँटका-रक्खा है ? बतादे, बतानेवालेको मैं उस लड़केके सब भूषण देदूँगा" ।

"सदाव्रती भूपति पहँ जाई । नृपसों कहि डौंडी पिटवाई ॥"

पुकार सुनकर एक सन्यासी कि जिसने, उस लड़के को मारके धूलमें छुपाते देखाथा, सो आके बोला कि "मन में लोभ लाके इसी बैरागी ने तुम्हारे पुत्र का बध किया है" यह कहके जहां मृतक शरीर था वहां उनको लेजाके दिखादिया ।

तब वैश्य भक्त जी ने अपने साथ के लोगों से कहा कि इस संन्यासीको पकड़-लेचलो, इसीने मेरे लड़के को मारडाला है, भला भया कि यह मिलगया" परन्तु मनमें तो क्षमा दया धैर्य्य को सँभाला ।

(दो०) सदाव्रती निज चित्त में कीन्ह्यो बिमल बिचार॥
मख्यो सुवन जीहै नहीं, व्यर्थ उपाधि प्रसार॥

(२७२) टीका। कवित्त। (८४२-२७२ = ५७०)

बोल्यौ अकुलाय "मैं तो दियो है बताय, मोंको देवौ जु छुटाय, नहींझूठ कछु भाषियैं"। "लेवौमति नाम साधु, जो उपाधि मेट्यौचाहौ, जावौ उठि और कहूं;" मानी, छोरि नाषियै॥ आयकै बिचार कियो; जानी सकुचायो संत; बोलिउठी तिया "सुता दैकैं नीके राखियै"। पख्यौ वधू-पांय, तेरी लीजियै बलाय, पुत्र-शोक को मिटाय, और खरी अभिलाषियै॥२२१॥ (६२९-२२१=४०८)

"नाषियै" = गेरिये, पटकिये, फेंकिये, डारिये।

वार्त्तिक तिलक।

जब भक्तजीने कहा कि "इसीको पकड़लो" तब वह संन्यासी अति अकुलाके कहनेलगा कि "मैंने लड़केको मारा नहींहै आपको बतायमात्र दियाहै, सो भी कुछ झूठ नहीं कहता हूं; मुझको छोड़दीजिये"। भक्त जी ने कहा कि "यदि इस उपाधिसे तुम छूटना चाहो तो लड़केके बधमें सन्तका नाम नलो, और यहांसे टलके कहीं चलेजाव"। संन्यासीने बात मानली, तब भक्तजीने छोड़दिया; वह चम्पत होगया।

भक्तजी मृतक शरीरको घरलाए; तदनन्तर उसकी दाहादिक क्रिया कर, बिचार करके अपनी धर्म-पत्नी से कहने लगे कि जानपड़ताहै "ये सन्त उदास होगये

हैं।," तब परमभक्ता आपकी स्त्री बोलीं कि "मेरा कहा मानिये तो सन्त को अपनी पुत्री बिवाह दीजिये और सनमान पूर्वक रखिये"। इसकी आश्चर्य्य-भक्ति-भरी बाणी सुनके सदाव्रतीजी अपनी धर्म-पत्नी के चरणोंमें पड़के कहनेलगे कि "तेरी बलिहारी जाऊँ; तूने पुत्र शोकको मिटाके अतिशय (खरी) उत्तम अभिलाषा की"॥

(२७३) टीका। कवित्त। (८४२-२७३ = ५६९)

बोलिलियौ संत, "सुता कीजियै जू अंगीकार, दुख सो अपार काहू विमुखकौं दीजियै"। बोल्यौ मुरझाय "मैं तो मार्‍यौं सुत हाय! मोपै जियौहू न जाय, मेरो नाम नहीं लीजियै"॥ "देखौ साधुताई, धरी सीसपै बुराई, जहां राईहूं न दोस कियौ, मेरु सम, रीझियै। दई बेटी ब्याहि, कहि "मेरो उर दाह मिटै, कीजियै निबाह जग माहिँ, जौलौं जीजियै॥२२२॥(६२९—२२२= ४०७)

वार्तिक तिलक।

भक्तजीने अपनी धर्मपत्नीका बचन अतिप्रिय मान, उस सन्तको बुलाकर प्रार्थनाकी, कि "इस मेरी कुमारी कन्या को आप अंगीकार कीजिये, क्योंकि किसी भक्ति-बिमुख को दूंगा तो मुझको अपार दुख होगा"। आपका विनय सुन वह साधुवेषधारी अति ग्लानि से मुरझाके बोला कि "हाय! आपके प्रियपुत्रको मैंने मारडाला, मुझसे जिया-नहीं-जाता, आप मुझ पातकीका नाम नहीं लीजिये"।

सदाव्रतीजी उस सन्त-वेष-धारी को सुनाके अपनी स्त्रीसे बोले कि "देखो तो आपकी साधुता, कि आपने यह दोष अपने माथेपर वृथाही धर लिया; जहां राईभर भी दोष नहीं वहां मेरु पर्वतके समान अपराध अंगीकार-करतेहैं। मैं इस साधुतापर रीझताहूँ"। फिर बिनय किया कि "मेरे हृदयकी ताप मिटानेकेलिये आप अवश्य कन्याको अंगीकार कर, जबतक मैं जगमें जिऊं तब तक यहाँही रहकर मुझे दर्शन देते रहिये, और अपनी कृपासेही इन बातौं का निबाह कीजिये"।

(दो०) माया चाकी, कील हरि, जीव चराचर नाज।
तुलसी जो उबरो चहसि, कील शरण को भाज॥
निदान उसको अपनी सुता व्याहही दी॥

(दो०) "अवगुण ऊपर गुणकरै, ऐसो भक्त जो कोय।
ताकी पनही सिरधरौं, जबभर जीवन होय॥"

(२७४) टीका। कवित्त। (८४२-२७४ = ५६८)

आये गुरुघर; सुनि, दीजै कौन सर, बड़ेसिद्ध, सुखदाई; साधु-सेवा लै बनाई है। कह्यौ "सुत कहां"? "अजू! पायौ;" कही "कैसीभांति?" "भांति का० बखानौं, जग मीच लपटाई है"॥ "प्रभुने परीछा लई, सोई हमै आज्ञा दई; चलियै, दिखावौ जहां देह-कौं जराइ है"। गए वाही ठौर, सिरमौर हरि-ध्यान कियो, जियो, चल्यो आयो; दास-कीरति बढ़ाई है॥ २२३॥ (६२९-२२३ = ४०६)

"भांति का बखानौं" पाठान्त "भांति को बखानै ?"

"सर"=सरबर, पटतर, उपमा । "पायो"=मीच को प्राप्त हो गया ।

वार्तिक तिलक ।

बिवाह होजाने केअनन्तर, सदाव्रतीजीके श्रीगुरु-देवजी जो कि बड़ेही भगवतभक्त सिद्ध उपमारहित सन्त सुखदाई थे, और जिनने प्रभुकी प्रसन्नताका साधन साधु-सेवाको बतायाथा सो आपके घर में आए; यह सब बिचित्र चरित्र कुछ तो श्रीप्रभु के इङ्गित से जानतेही थे, तथा यहां और किसीने कह दिया सो सुनकर भक्तजीसे पूछा कि "तुम्हारा पुत्र कहां है ?" भक्तजीने उत्तरदिया कि "आपजी महाराज ! उसकी तो मृत्यु होगई" श्रीगुरुजीने प्रश्नकिया कि "किस भांति से ?" उत्तरदिया कि "प्रभो ! भांति क्या बखानूं, इस जगत मेंतो मीच लपटीही है" तब श्रीगुरुमहाराजजी बोले कि "यह तुम्हारी भक्तिकी प्रभुने परीक्षा लेकर तुम्हारा सुयश बढ़ाके, मुझे आज्ञा दीहै कि "तुम वहां जाव"। यह कह आपने आज्ञा की कि "चलो, जहां तुमने उसको दाह कियाहै वहां चलें"।

वहाँ जाके सिद्धशिरोमणि श्रीगुरुजी ने ध्यानकरके ज्योंहीश्रीप्रभुसे प्रार्थनाकी, त्योंही श्रीप्रभुका प्रगट-किया-हुआ वह पुत्र सजीव आपहुंचा, और उसने श्रीगुरुचरणों को प्रणामकिया । जयजयकार हुआ ।

इस प्रकार श्रीभगवान्ने अपने दासकी उज्वल कीर्त्ति बढ़ाई। जिसको अद्यापि सज्जन लोग सुन और गाकर अपूर्व प्रेममें मग्न होजाते हैं ॥

(२७५) छप्पै । (८४२-२७५ = ५६७)

चारौयुग चतुर्भुज सदा, भक्त-गिरा सांची करन॥ दारुमई तरवार सारमय रची "भुवन"[१] की। "देवा"[२] हित शित-केश प्रतिज्ञा राखी जनकी॥ "कमधुज"[३] के कपि चारु चितापर काष्ट जु ल्याये। "जैमल"[४] के जुधिमांहि अश्वचढ़ि आपुन धाये॥ घृत-सहित भैंस चौगुनी;[५] "श्रीधर"[६] सँग सायक-धरन। चारौयुग चतुर्भुज सदा, भक्त-गिरा सांची करन॥ (४७)॥ ५२॥ (२१३-५२ = १६१)

वार्तिक तिलक।

श्रीचतुर्भुजभगवान् चारो युगों में अपने भक्तों की वाणी सदाही सच्ची करते आते हैं।

(१) "भक्त श्री भुवनसिंह जी चौहान" का खड्ग था तो काष्ठही का, परन्तु भक्तजीके मुखसे "सार" उच्चारण होतेही प्रभुने उसको उत्तम सार लोहे का बनादिया।

(२) एवं "श्री देवापण्डाजी" के कहने से उनके हित-करने के अर्थ भगवान् श्रीचतुर्भुज जी ने अपने विग्रह में श्वेत (धवल) केश धारण कर उनकी प्रतिज्ञा रखली।

(३) ऐसाही, "श्री कमधुज (कामध्वज) जी" ने कहा कि

"मैं जिसका दास हूं वही मेरे शरीर का दाह करेगा", इस्से श्रीकपीश-हनुमानजीने उनकी चिता केहेतु उत्तम काष्ठ लाके इनका मृतक शरीर जलाया।

(४) तथा, "राजा जयमल जी" केहेतु युद्धमें प्रभु स्वयं आप घोड़ेपर चढ़के दौड़े और लड़कर विजय किया।

(५) इसी भांति, "ग्वाल भक्त" जिनने झूठही कह दिया कि "मैंने भैंसें ब्राह्मण को देदी हैं, वह घृतसहित देजावेगा", सोभी प्रभुने सत्यकिया कि चौगुनी भैंसें घरमें पहुँचीं।

(६) इसीप्रकार "श्रीधर जी जिनने चोरों से कहा कि "मेरे साथ मेरे रक्षक हैं" सो इनकी गिरा सत्य करने के लिये अपने चारो भुजाओं में धनुष बाण लियेहुए श्रीरघुबीर लक्ष्मणजी ने रक्षा की॥

१० श्री भुवन चौहान जी	४ राजा श्रीजयमल जी
२ श्री देवापंडा जी	५ श्री ग्वालभक्त जी
३ श्री कामध्वज जी	६ श्री श्रीधर जी

श्रीप्रियादास जी ने आठवें कवित्त (पृष्ठ ४१) में जो यह लिखा है कि "समझ्यो न जात मन कम्प भयो चूर है। ऐपै बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है॥" इस कवित्त में सभी शंका करते हैं कि, इस कवित्त में कथित भक्ति के लक्षणों से पृथक अब क्या भक्ति-रूप रह गया?

सोजानना चाहिये कि सदाव्रती जी की भक्ति और अनूठी प्रतीति, तथा सुतों को विष देनेवाली स्त्रियों की भक्ति इत्यादिक ही, वे भक्तियां हैं कि जो पूर्वोक्त लक्षणों से दूर हैं और, श्री भक्तमाल में वर्णित भक्तों मेंही देखी जाती हैं॥

(२७६) टीका। कवित्त। (८४२-२७६ = ५६६)

सुनौ कलिकाल बात, और हैं पुराण ख्यात, "भुवन चौहान" जहां "राना" की दुहाई है। पट्टा युगलाख खात, सेवा अभिलाष साधु; चल्यो सो सिकार नृप, संग भीर धाई है॥ मृगी पाछे परे, करे टूक, हुती गाभिन, यौं आइ गई दया, कही "काहेको लगाई है?। कहैं मोकों 'भक्त' क्रियाकरौं मैं अभक्तन की; दारु तरवार धरौं" यहै मन भाई है॥२२४॥ (६२९—२२४ = ४०५)

"युगलाख" = दोलाख, २००००० । "सिकार" = شكار शिकार, मृगया, आखेट। "चौहान" = क्षत्रिजाति विशेष। साल سال संवत्सर, बर्ष।

वार्तिक तिलक।

"और-पुराणों-में-ख्यात" तीन युगों के भक्तों के उदाहरण—(१) कृतयुग में श्रीध्रुवजीने कहा कि मैं प्रभुका भजन कर सिंहासन और राजा के गोद में बैठूंगा (२) त्रेता के आदि में प्रह्लाद जी ने कहा कि खंभे में प्रभु हैं (३) द्वापर में भीष्म जी ने कहा कि मैं प्रभुको अस्त्र गहाऊंगा, इन की तथा अनेक की वाणीं प्रभुने सच की। (४) कलियुग में श्री भुवन चौहान जी, इत्यादि॥

श्री भुवन जी चौहान।

और युगोंकी कथाएं तो पुराणों में विदितही हैं, अब कलिकाल के भक्तकी कथा सुनिये—जहां चित्तौर गढ़ उदयपुर के राना की दोहाई अर्थात् राज्य है, वहां एक भक्त श्री भुवनसिंह जी चौहान थे। राना के यहां

से दो लाख रुपये वार्षिक पाते थे, इसके लिये भूमि का पट्टा था; और भक्त जी साधुसेवा बड़े अभिलाषा से करते थे। एक दिवस राना मृगया (शिकार) खेलने को चला; संगमें सब राजभृत्य तथा सामन्त भुवनसिंह जी भी चले; कालवश एक मृगी के पीछे आपने घोड़ा दौड़ाकर उस्को खड्ग से दो टुकड़े करदिये; वह गर्भवती थी; उसको देख के भक्तजी को अतिदया और ग्लानि आई; और मन में पछताने लगे कि "हा! मैंने क्यों मारा? मुझ को सबलोग 'भगवत-भक्त' कहते हैं, परन्तु मैं कर्म अभक्तों का करता हूं। इस्से मन में संकल्प किया कि मैं आजसे काष्ठ की कृपाण बनवा के धारण किये रहूंगा"। सो आपने वैसाही किया॥

(२७७) टीका। कवित्त। (८४२-२७७ = ५६५)

और एक भाई, तानै देखी तरवार दारु, सक्यौ न न संभार, जाय रानाकौं जनाईहै। नृप न प्रतीतिकरै, करै यह सौंह नाना, बाना-प्रभु देखि तेज, बात न च-लाई है॥ ऐसेही बरसएक कहत बितीत भयो, कह्यो "मोहि मारि-डारौ,जोपै मैं बनाईहै"। करी गोठ, कुंड जाय, पायकै प्रसाद, बैठे, प्रथम निकासि आप, सब-नि दिखाई है॥२२५॥ (६२९—२२५=४०४)

गोट = गोष्ठि सभा।

वार्तिक तिलक।

इस वार्त्ताको चौहानजो के एक (कुल संबन्धो)

भाईने जाना और देखलिया; और इस मर्म को अपने हृदय में रख नसका, वरंच जाके राना से कहदिया। परन्तु राना प्रतीति नहीं करता था। पिशुन ने नाना सपथ खाकर आग्रह पूर्वक कहा कि "महाराज! उन का खड्ग वास्तवमें काष्ठ काही है"। तथापि, भक्तजी का श्रीहरिभक्तवेष और तेज देखकर रानाने आपसे उसकी कुछ चर्चा नहीं की। इसी प्रकार एक वर्ष पर्य्यन्त उसने कहाही किया; निदान उसने यह कहा कि "यदि मैं अन्यथाबनाके कहता होऊं तो मुझको मारडालियेगा। तब एकदिन राना ने, अपने एक उपवनके समीप सर (कुण्ड) के तीर समाज सहित जाके, भोजन कर, सभा गोष्ठी (गोंठ) की। वहां रानाने प्रथम अपना खड्ग कोशसे खींचकर सबको दिखाया।

(२७८) टीका। कवित्त। (८४२-२७८ = ५६४)

क्रमसों निहारि, कही भुवन "बिचार कहा?" कही- चाहै 'दार' मुख निकसत 'सार' है। काढ़ि के दिखाई, मानों बिजुरी चमचमाई आई मन मांझ बोल्यो "याकी मारी भार है"। भक्त कर जोरि कै बचायो "प्रजू! मारिये क्यों? कही बात झूठनहीं; करी करतार है"॥ "पट्टा दूना-दून पावो, आवोमत मुजरा कों, मैंही घर आऊं, होय मेरो निस्तार है" ॥२७६॥ (६२९-२२६=४०३)

"दार" = दारु, काष्ठ, लकड़ी।

वार्त्तिक तिलक ।

राजाने पहिले अपना खड्ग दिखाके फिर क्रमसे सब वीरसामन्तों के खड्ग, कोशों (मयानों) में से खिंचवा के, देखे और कहा कि "भुवन जी ! क्या विचार करते हो ? तुम भी तो दिखाओ"। तब भुवन जी खड्गको करमें लेकर कहाही चाहते थे कि "मैं क्या दिखाऊं, मेरा खड्ग तो दार का है," परन्तु सार का करदेने वाले प्रभुने 'दार' शब्द के स्थानपर मुखसे "सार" कहलादिया, और साथही ज्योंही चौहानजीने कृपाण खींचकर दिखाया, वहीं (तलवार) बिजली सी चमचमाने लगी कि राना की आखों में चकचौंध सा हो आया। देखकर, राना फड़क उठा और विचारके अपने वीरों से बोला कि "वह मिथ्यावादी पिशुन भूमि-का-भार है इसको मार डालो"।

श्रीभुवन जी श्रीसीतारामभक्त तो थेही उस शत्रुता-करने वाले पर भी दया कर उसके प्राण बचाने केलिये हाथ जोड़कर राना से आपने कहा कि "महाराज ! इसको क्यों मारते हैं? इसने मिथ्या नहीं कही क्योंकि मैंने एकदिन आपके संग एक गर्भिणी मृगीको मारा, उसका बच्चा भी कटगया उसदिनसे दयावश मैं काष्ठ ही का कृपाण रखता था, इससे मेरा खड्ग तो था दार ही का, परन्तु भक्त वत्सल करतार ने इसको सारका करदिया"।

ऐसा सुन, रानाजी श्रीभुवन भक्त की सब वार्ता यथार्थ मान, भक्ति-युक्त कहनेलगे कि "आजसे आप की पट्टा दूना (चारलाख) दिया जाय, और आप मेरी सभा में जुहार करने तथा सेवा में कभी मत आया कीजिये; मैंही दर्शनके लिये आपकेही घर आयाकरूंगा कि जिस्से मेरा भवसागर से निस्तार होजायगा ॥"

(अरिल्ल) "भई तलाया गोंठ, जुरे जहँ चक्कवै। परचौ निज है, आजु खाय द्वैलक्खवै ॥ परमेश्वर पति-राखि, बात नहिँ कहनकी। बिजुरी ज्यों तरवार च-मंकी भुवन की ॥"

"राना" के कुलदेव "श्रीचतुर्भुजजी" के पंडा श्रीदेवा जी।

(२१९) टीका। कवित्त। (८४२-२७९=५६३)

दरसन आयो "राना" रूप "चतुर्भुज जू' कैं, रहे प्रभु पौढ़ि, हार सीस लपटाये हैं। बेगि दै उतारि, कर लैकैं गरे डारिदियो, देखि धौरौ बार, कही "धारे आये ?" "आये हैं" ॥ कहत तौ कही गई, सही-नहीं जात अब, "महीपति डारै मारै" हरिपद ध्याये हैं। "अहो हृषीकेश! करौ मेरेलिए सेतकेस, लैसहूं-न भक्ति" कही "किये, देखो, छाये हैं" ॥२२७॥ (६२९-२२७=४०२)

"धौरौ"=धवल, श्वेत। "धौरे आए हैं ?"=केश क्या उज्जल हो गए ? क्या बाल पक गए ?

वार्त्तिक तिलक।

श्रीचतुर्भुजभगवान् के दर्शन केहेतु रात्रिमें राना प्रायः आयाकरताथा। एकबार रानाको अबेरहोगई और प्रभुके सयनका समय जानकर श्रीदेवाजी (पंडा)* ने सयन-करादिया, और प्रसाद् माला लेकर अपने माथे में लपेट लिया; उसी अवसर राना दर्शनको आया; सो तो हुआ नहीं। परन्तु श्रीदेवाजीने शीघ्रतासे अपने सीससे माला उतारकर रानाके गलेमें डाल दिया; उस्में लपटाहुआ पंडा (पुजारी) जी का एक स्वेतकेश चला-गया; उस्को देख, रानाने कुछ सकोप व्यंग बचन से पूछा कि "पंडाजी! क्या श्रीचतुर्भुजजी के केशोंमें शुक्लता (सपेदी) आगई ?"। श्रीपंडाजीके मुखसे निकलगई कि "हां आगई"। राना यह कहकर चलागया कि "कल दिन को आके दर्शन करूंगा"।

पुजारीजीने कहने को तो कहदिया परन्तु अब अति दुसह चिन्ता हुई कि 'राजा अब मुझे मार ही डालेगा'; परन्तु भक्त*तो थेही, इस्से प्रभुके चरणकमलका ध्यान करनेलगे (दो०) "सीतापति रघुनाथजी! तुम लगि मेरी दौर। जैसे काग जहाज की सूझत और-न ठौर॥"

*देवा जी श्रीपैहारी कृष्णदास जी के शिष्य (गृहस्थ) थे॥

द्वारदेश में बैठ ध्यान करते हुए यह विनय करने लगे कि "हे हृषीकेश! वाक-इन्द्री के प्रेरक! अब आप मुझदास की रक्षा के निमित्त वस्तुतः श्वेत केश

धारण कीजिये। यद्यपि मुझमें आपकी भक्तिका लेश भी नहीं है, तथापि हूं तो आपहीका" ऐसी अति प्रार्थना सुन भक्तवत्सल कृपालुकी, मन्दिरके भीतरसे स्पष्ट वाणी हुई ही तो सही, कि "मैंने धारण करलिये; देखो मेरे मस्तकमें धवलकेश छाए हैं ॥ "

(२८०) टीका । कवित्त । (८४१-२८० = ५६१)

मानि राजात्रास, दुखरासि सिन्धु बूड्यो हुतो, सुनि के मिठासबानी, मानो फेरि जियो है। देखे सेतबार, जानो कृपा मो अपारकरी, भरीआंखें-नीर "सेवालेस मैं न-कियो है॥ बड़ेई दयाल, सदा भक्तप्रतिपाल करैं, मैं तो हौं अभक्त, अैपै सकुचायो हियो है" । "झूंठे सन-बंधहूं-तैं नाम लाजे मेरोई जु," तातैं सुख साजे यह दरसाय दियो है ॥ २२८ ॥ (६२९-२२८=४०१)

वार्त्तिक तिलक ।

श्री देवापंडा जी जो राजा का बड़ा भारी डरमान दुःखराशिरूपी समुद्रमें डूबेहुए थे, सो इनने श्री प्रभुकी यह अतिमिष्ट मृतकजियावनि वाणी सुनकर ऐसा सुख पाया कि मानों मरणशील अमृतपीके जीउठे, और फिर जब प्रभुके सीसमें धौले बाल देखे तब और भी आनन्द-मग्न हो अपनेपर सर्कारकी अपार कृपा जान नेत्रों में प्रेमाश्रु भरके, प्रभुके धन्यवाद करनेलगेकि "मैंने प्रभुकी लेशमात्रभी सेवा नहींकी परन्तु भक्त वत्सल प्रभु बड़ेही

दयालु हैं, सदा अपने भक्तोंका प्रतिपाल करतेहैं; और मैं तो अभक्तही हूं तथापि मेरी प्रार्थनासे आपका कोमल हृदय संकोचको प्राप्तहुआ पर हां मैं झूठा सञ्चा आपही का तो कहलाताथा, सो इस सम्बन्धसे आपने यह विचारकिया कि "जो मैं इसकी अब रक्षा नहींकरूं, तो मेरेही नामकी लज्जा होगी" अतएव सर्कारने मेरे सुखका साजनेवाला यह वेष धारणकरलिया, और अपनी कृपालुता सबको दिखादी ॥"

(२८१) टीका । कवित्त । (८४२-२८१ = ५६१)

आयो भोर राना, सेतबार सो निहारि रह्यो, कह्यो "केस काहूं के लै पंडा ने लगाये हैं" । ऐंचिलियो एक तामैं, खैंचिके चढ़ाई-नाक, रुधिरकी धार नृप अंग छिरकाये हैं ॥ गिर्यो भूमि मुरछा है, तन की न-सुधि कछू, जाग्यो जामबीते, "अपराध कोटि" गाये हैं । "यही अब दंड 'राज बैठै सो न आवै इहां;" अबलौंहूं आनि मानि करै जो सिखाये हैं ॥ २२९ ॥ (६२९-२२९=४००)

वार्तिक तिलक ।

राजाके मनमें यह अमर्ष तो थाही कि "इस बुड्ढे (पुजारी) ने अपना पहिनाहुवा हार मुझे पहिराया है," इससे प्रभातही आकर श्रीचतुर्भुजजीके दर्शनकर श्वेतबाल देख चकित होरहा, क्योंकि करुणानिधि प्रभुकी कृपालुता उसको निश्चय तो हुईहीनहीं, अतः विचार कियाकि "पंडेने किसीके धवले केशलेकर लगा दिये हैं; इस अप्रतीतिसे श्रीचतुर्भुजजी के समीप जाके प-

दीक्षाकेलिये उसने एकबाल उखाड़ही तो लिया। उखाड़नेके साथही प्रभुने अपनी नासिका सकोड़ी (नाक चढ़ाई), और उस्से लुहूकीधारा बेगसे निकलकर राना के अंगोंपर आपड़ी; प्रभुके उस अपचारसे राना मूर्छित होके भूमिपर गिरपड़ा पहरभर उस्को शरीर की तनक भी सुधि न रही॥

जब पहरभर पीछे वह मूर्छा से जागा, श्रीसर्कार से अपना "बहुत भारी अपराध" कहके क्षमा कराने लगा, तब श्रीरूपचतुर्भुजजी की आज्ञा हुई कि "यहाँ के राजाओं को अब यही दण्ड है कि जो राजगादीपर बैठा करे, आज से वह हमारे दर्शन को न आया करे"। इस्से उदयपुर-रानाके वंशमें जो राजा होता है राजतिलक होनेपर वह प्रभुकी आज्ञाकी आनि मानकर अबतक श्रीचतुर्भुज जी के मन्दिर में नहीं आता।

श्री कामध्वज जी।

[२८२] टीका। कवित्त। [८४२—२८२ = ५६०]

भए चारिभाई, करैं चाकरी वे राना जू की; तामैं एक भक्त, करै बन मैं बसेरो है। आय कै प्रसादपावै, फेरि उठि जाय तहीं; कहैं "नेकु चलो तौ, महीना लीजे तेरो है"॥ "जाके हम चाकर हैं, रहत हजूर सदा," "मरे तो जरावै कौन?" "वही जाको चेरो है"। छूट्यो तन बन, राम-आज्ञा हनुमान आए, कियो दाह, धुंआं-लगे

मेत पार नेरे है ॥ २३०॥ (६२९-२३०=३९९)

"हजूर" = حضور हुजूर, सन्मुख, वर्तमान, उपस्थित।

"नेरे" = निकट समीप।

वार्तिक तिलक।

चित्तौरगढ़-उदयपूर में ही रानाकेहां इन चारो भाइयों की चाकरी लिखीथी, महीना पातेथे; परन्तु तीनभाई तो रानाकी सेवामें उपस्थित होतेथे, पर एक चौथे कामध्वजजी श्रीसीतारामजी के अनन्यभक्त थे; ये वनहीमें भजनकरतेहुए निवास करते, केवल प्रसाद पाने मात्र को घर आजायाकरते; और प्रसादपाके फिर वहीं वनहीमें चलेजाया करतेथे। तीनों कहाकरते कि "भला तुमतनक एकबेर तो राना जीको जोहार करआया करो, क्योंकि तुम्हारी चाकरी का महीनाभी हमलोग वहांसे लायाकरतेहैं, नजाओगे तो कैसे मिलेगा ?" यहसुन श्रीयुतकामध्वज जी ने उत्तर दिया कि "मैं जिस प्रभुका चाकरहूँ उसीकी सेवामें सदा निकट रहताहूं" तब भाइ-योंने सक्रोधहोके कहा कि "तू जब मरेगा तो तुझे ज-लावेगा कौन ?(हमतो न जरावेंगे)"॥ आपने छूटतेही (शीघ्रही) उत्तर दिया कि "जिसका यहदास है सोही जलावेगा"

निदान, आपका शरीर वनमेंही छूटा, और उसी क्षण कृपानिधान श्रीसीतारामजीकी आज्ञासे श्रीकपिनाथ हनुमानजी आकर चन्दनकी लकड़ीकी चिता बनाके

यथेष्ट दाह-क्रिया कर उनको दिव्य रूपसे श्रीरामधाम को लेगए । वरंच चिताके समीपमें वृक्षोंपर जो बहुत से प्रेत रहतेथे सो वे सब प्रेत, आपकेशरीर का धुँवा लगने से, प्रेतयोनिसे मुक्त होकर शुभगति को प्राप्त हुए। किन्तु एक प्रेत उसघड़ी वहां उपस्थित नथा, आनेपर अपने सजातियोंको नदेखकर, किसी एक मूर्त्तिसे उसने सब वार्त्ता सुनी और उसी चिताके भस्म में लोटपोटकर प्रेतत्व से छूट शुद्धहो सद्गति पाई ॥

श्रीजयमलजी ।

(२८३) टीका । कवित्त । (८४२-२८३ = ५५९)

"मेरतैं" प्रथम वास, "जैमल" नृपति, ताकों सेवा-अनुराग, नेकु खटको नभावही । करे घरी दस, तामैं कोऊ जो खबरि देत, लेत नहीं कान, और ठौरमरवावही॥ हुतो एक भाई बैरी, भेद यह पाइलियो, कियो आनि घेरी, माता जाइकैं सुनावहीं । "करैं हरि भली," प्रभु घोरा असवार भए, मारी फौज सब, कहैं लोग सबु पावहीं ॥२२१॥ (६२९–२२१=३९८)

"खबरि" = ख़बर خبر, समाचर, जताना, आगाहजनाना। "असवार" اسوار सवार, अश्वारूढ़ । "फ़ौज" = فوج, सेना ।

वार्तिक तिलक ।

हरिभक्त राजा श्रीजयमलसिंहजी का, प्रथम "मेरता" नगरमें निवास था; भगवतकी सेवापूजामें इनका ऐसा

एकाग्र अनुरागथा कि उसमें किंचित भी खटका होनेसे क्लेश मानतेथे; और दस-घड़ी पर्य्यन्त नियम से पूजा करतेथे; इस समयके बीचमें जो कोई किसी प्रकार की वार्त्ता जनावे तो आप उसको श्रवण नहीं करते; वरंच उसी ठांम उसको मरवाते थे। आपके इस नियम का सब भेद आपके एक बैरीभाई ने जानकर उसी समयके प्रारंभमें बहुतसी सेना लेकर नगर को आघेरा; और तो कोई आपके पास समाचार जताने को जा सका नहीं, परन्तु आपकी माताजीने आके उस दुष्टका घेरलेना आपको सुनादिया। सुनकर भक्तराज श्रीजयमलजी ने इतनीही बात कही कि "श्रीहरि भली करैंगे" और उसी प्रकार सेवापूजामेंही लगे बने रहे।

तब शत्रुसूदन भक्तवत्सल श्रीप्रभुजी जयमलसिंह के घोड़ेपर चढ़ अस्त्रशस्त्रले सब सेनाको मार, उस शत्रुको भी घायल-कर गिराके, घोड़ेको अश्वशालेमें बांध आप अन्तर्धान होगए। और प्रभुकी इस कृपालुता कर्तव्यताको देख लोगोंने आके कहा कि "बैरी की सब सेना मारी हुई पड़ी है।" यह सुन सब सचु (सुख) को प्राप्त हुए॥

(२८४) टीका। कवित्त। (८४२-२८४ = ५५८)

देखै हांफै घोरो; "अहो! कौन असवार भयो?"
गयो आगे जबै, देख्यो वही बैरी पर्‌यो है। बोल्यो
सुखपाय "अजू! सांवरोसिपाही कोहै? एकलेहीं फौज

मारी, मेरो मन हर्यो है॥ "तोहीको दिखाई दई, मेरे तरसत नैन!" चैनन सों जानी 'वही स्यामप्रभु ढर्यो है'। पूछिके पठाय-दियो, वा ने पन यहै लियो, कियो, हन दुःख, करै भली, बुरो कर्यो है ॥२३२॥ (६२९-२२२=३९७)

वार्तिक तिलक।

अपना नियम पूजा समाप्तकर उठके वस्त्र शस्त्रादि से सुसज्जित हो, निकलकर, श्रीजयमल जी ने अपना घोड़ा मँगवाया; देखैं तो वह घोड़ा अत्यन्त श्रमित होकर पसीनेसे भरा हांफरहाहै। देखकर आपने पूछा कि "इस घोड़ेपर चढ़ा कौन था?" पर किसी ने कुछ उत्तर नहीं दिया क्योंकि कोई इसका मर्म जान्ता ही नथा।

फिर आप बैरीकी सेना की ओर आगे जाके देखैं तो वही शत्रु घायल पड़ाहुआ है। प्ररन्तु प्रभुके-दर्शनके-सुख-युक्त उसने श्रीजयमलजीसे पूछा कि "अजी महाराज! आपकेहां वह सांवला-सा सुभट बीर कौन है? कि जिसने अकेलाही सब सेना (फौज) मारडाली और मुझे घायलकर अपनी सुन्दरतासे मेरा मन हर लेगया।

(दो०) सियपिय बदन अदोष ससि, अलकावलि युग नाग। नयन विशेष कटाक्ष शर, सखि! मोरे हिय लाग॥

उसके बचन सुन, आप बोले कि "उन श्याम सुन्दर सुभटने तुम्ही को दर्शन दिया, मेरी तो आंखें तरसही रही हैं!"

आपके वचनोंसे उस शत्रुने जाना कि "अहह हो ! ये तो स्वयं प्रभुही थे जिनने कृपाकर इनकी रक्षाहेतु आके ऐसा पुरुषार्थ किया।"

श्रीजयमल जी ने उस्से पूछा कि तुम्हारी क्या इच्छा है ? उसने कहा कि "मैं अपने घर जाया चाहताहूं" आपने कृपा कर उस्को पालकी में चढ़ा कर उस्के घर पहुंचवा दिया। अपनी दुष्टताकी ग्लानिसे दुःखित हो उसने विचारा कि 'देखो प्रभु के भक्त ऐसे होते हैं कि मैंने तो उनसे ऐसी दुष्टता की, और उन्होंने मेरे साथ ऐसी भलाई की'। फिर वह भी श्रीजयमलजी की नाईं पूजन का पनले सपरिवार भक्त होगया ॥

एक ग्वाल भक्त जी।

(२८५) टीका। कवित्त। (८४२-२८५ = ५५७)

भयो एक ग्वाल, साधुसेवा सो रसाल करै, परै जोई हाथ लेके सन्तन खवावही। पायो पकवान बनमध्य, गयो ख्याइबेकों; आइबेकी ढील, चोर भैंस सो चुरावहीं ॥ जानिके छिपाई बात मातासों बनाइ कही, "दई विप्र-भूखो, घृतसंग फेरि आवहीं"। दिन द्वै दिवारी को सु उन्हि पहिरायो हांस, आइ घर जाम लिये रांभके सुनावहीं ॥२३३॥ (६२९-२३३=३९६)

वार्त्तिक तिलक।

किसी उत्तम ग्राम में ग्वाल जाति के मध्य एक

भगवद्भक्त हुए; वे बड़ी रसीली साधुसेवा किया करतेथे, कि जोकुछ भोजनका अच्छा पदार्थ हाथ-लगता था सो सन्तों ही को खिलादेतेथे। एकदिवस बनमें भैंस चरा रहेथे; किसी तिथि-उत्सव-संयोग से इन्हीके घरसे अच्छे२ पकवान उनकेपास पहुँचे; सो आपने तो पाए नहीं, लेके समीपस्थ किसी साधुको पवानेकेलिये ले गए;और भैंसें वहांही छोड़गए; आनेमें जितना विलम्ब हुआ उसीअन्तरमें चोर भैंसोंको चुराके हांकलेगये। आपने आके देखाढूंढा तो भैंसें मिलीं नहीं; भक्तजीने जानलिया कि भैंसोंको चोर लेगए। परन्तु घरवालोंके भयसे उसबार्ता को छिपाकर मातासे बातबनादी कि "माई! मैंने भैंसें एक भिक्षुक भूखे ब्राह्मणको देदीहैं; वह माठा खायेंगे और घी सहित भैंसें फिर देजांयगे।"

कुछ दिन के अनन्तर जब दीपावली (दिवाली) का दिन आया, उसदिन चोरोंने भैंसों की उत्साहसे चांदीकी हँसुलियां पहिनाईं; तब अपने भक्त की बाणी सत्यकरनेवाले तथा भैंसोंके प्रेरक प्रभु की प्रेरणासे भक्त जी की भैंसें उसके घर की भैंसों को भी साथले भगीं; और श्रीग्वाल भक्त जी के घर पर सबकीसब आकर-खड़ीहो रँभाने (शब्दकरने) लगीं। श्रीभक्त जी ने देखकर कहा कि "माता! देखो, भैंसें आगईं; और घी बेचके रूपे की हँसुलियां भी बनवाके ब्राह्मण देवता देकर चलेगए।" श्रीसाधुसेवीभक्त-गिरा-सत्यकारी भग-

वान् की जय। "अरुण मृदुल येई पदपंकज त्रिबिध ताप दुखहरण हमारे॥"

श्री श्रीधर स्वामी जी।

(२८६) टीका। कवित्त। (८४२-२८६ = ५५६)

भागवत-टीका करी "श्रीधर" सुजानिलेहु, गेहमैं रहत, करैं जगत-व्यवहार हैं। चलेजात मग, ठग लगे, कहैं "कौन संग?" "संग रघुनाथ मेरो जीवन-अधारहैं"॥ जानी इन कोउ नाहिँ; मारिबो उपाय करे; धरेआपबान, आवैं वही सुकुँवार हैं। आये, घर ल्याये, पूछैं "स्याम सो सरूप कहां?" जानी वे तौ पार किये आपु, डार्‍यो भार हैं॥२३४॥ (६२९-२३४=३९५)

"ठग लगे"=ठग पीछे पीछे साथ हो लिये। "वे"=प्रभु।
"डार्‍योभारहैं"=गृहस्थी के भार को त्याग डाला।

वार्तिक तिलक।

ऊपर, पृष्ठ ५३३ कवित्त १६४ में, कह आएहैं कि श्री श्रीधर स्वामीजी ने श्रीमद्भागवतपर कैसी उत्तमोत्तम परमधर्म्ममय टीका कीहै। सो, जान लीजिये कि पहिले आप गृहस्थाश्रममें रहके संसारके शास्त्रोक्त व्यवहार कियाकरतेथे और धनीभीथे। उन्हीं दिनोंमें एक समय, आप आगरे से घर चले आरहेथे; मार्गमें कई ठग आपके साथ लगगए। उन ठगोंने आपसे पूछा कि "तुम्हारेसंग कोईहै? और हैतो कौन है?"

आपने उत्तरदिया कि मेरेसंग मेरे प्राणाधार सार्ङ्ग-धर श्रीरघुबीर हैं"

इस्से ठगौंने यह जानलिया कि 'इनके साथ कोई भी नहीं है,' वे आपके मारडालनेका उपाय करनेलगे। वहीं धनुषबाणधरे हुए वेही सुकुमार श्रीभक्तरक्षक प्रभु जिनको आपने अपनेसाथ बूझा और बतायाथा ठगों के देखने में आए, और साथसाथ बनेरहे यहांतक कि आप कुशलआनन्दपूर्वक घर पहुँचगए।

आकर ठग श्रीश्रीधरस्वामीसे पूछनेलगे कि "जो परम सुकुमार श्यामसुन्दर बीर धनुवाणधारी रक्षक तुम्हारेसंगसंग आया है, वह अब कहां है? हम देखा-चाहते हैं"। तब यह जानकर कि 'स्वयं सर्कारनेही मार्ग में मुझे विपिन-पार-किया,' आपने गृह के समस्त भार को तजडाला और निर्द्वन्द्वहो श्रीहरि॰ भजन में लग गए। श्रीभागवत टीका इस्के पीछे की। "प्रीति कृपा जो सदा निबाही। ऐसे प्रभु तजि भजिये काही।

---

(२८७) छप्पय। (७४२-२८७-५५५)

भक्तनि सँग भगवान नित, ज्यों *गऊ-वच्छ गोहन फिरैं॥ "निहिकिंचिन" इक दास तासु के हरिजन आये। विदित बटोही रूप भये हरि आपु लुटाये॥

साषि देन कौं स्याम "खुरदहा" प्रभुहि पधारे। "रामदास" के सदन राय रनछोर सिधारे॥ आयुध-छत तन अनुग के, बलिबंधन अपु वपुधरैं। भक्तनि सँग भगवान नित ज्यौं गऊबच्छ*गोहन फिरैं॥ (४८) ॥५३॥ (२१३-५३-१६०)

*पाठान्तर "गउ बछ"। "गोहन"=पीछे पीछे, साथ साथ।

वार्तिक तिलक।

श्रीभगवान् अपने भक्तोंके साथ सर्वदा ऐसे फिराकरतेहैं कि जैसे वत्सके संगसंग गऊ।

(१) एक साधुसेवापरायण हरिभक्त "निष्किञ्चन" नाम, तिनके घर साधुलोग आए; भक्त जी की साधुसेवावृत्ति विदित ही थी, तथा यह कथा भी विदित है कि श्रीलक्ष्मीजी सहित स्वयं भगवान् ही एक सराvगी साहूकार बटोही के रूप में आए, और भक्तजीके हाथोंसे अपनेतईं लुटवाडाला।

(२) साखी देनेके निमित्त श्यामप्रभुजी आपही खुर्दहा ग्राम में पधारे। (अपने पास बुलवाया नहीं)

(३) श्रीरायरनछोर जी "द्वारकाजी" से "डाकोर" श्रीरामदासजी के घर कृपाकरके आए; और, पण्डों के हथियार के घावको भक्त के शरीर में लगने नहीं दिया, वरन् बलिबंधन प्रभु ने उस हथियार का घाव आप ही अपनेही अंगपर ले लिया।

बछड़ेके संग संग डोलनेवाली गऊ की भांति भगवत नित्य अपने अनुगों के साथसाथ बिचरा करतेहैं (फिरेफिरते हैं)।

(१) श्रीनिष्किञ्चन हरिपाल जी;

(२) श्रीगोपालजीने जिसभक्त के लिये साक्षी दी;

(३) श्रीरामदास डाकोर वाले।

यहां प्रभुका "बलिबन्धन" नाम लिखने का भाव—(१) जैसे प्रभु ने राजा बलि को ऐसे छला कि नापने के समय शरीर बढ़ाके तीनद्वीपभर्में सब नाप लिया, वैसे ही यहां अति हलके होकर आप पण्डों को ठग दिया कि अपने सारे विग्रह को केवल एक बाली के तुल्य कर दिया। (२) जैसे बलिके हां प्रभु विराजे, वैसे रामदास जी के हां भी॥

☞ इन सब भक्तों की कथा आगे आतीहै।

(२८८) टीका। कवित्त। (८४२—२८८ = ५५४)

भक्तनि के संग भगवान ऐसे फिर्यो करैं जैसे बच्छसंग फिरै नेहवती गाइ है। "हरिपाल" नाम विप्रधाम में जनम लियौ, कियो अनुराग साधु, दई श्री लुटाइ है॥ केतिक हज़ार लै बज़ार के क़रज़ खवाए, ग़रज़ न सरै, कियौ चोरिको उपाइ है। विमुख कों लेत, हरि दास कौं न दुःख देत; आये संतद्वार; तियासंग बतराइ है॥२३५॥ (६२९—२३५=३९४)

"श्री" = धन। "हज़ार" = هزار सहस्र १०००। "बजार" = بازار हाट, नगर। "करज" = قرض क़र्ज़, ऋण, उधार। "गरज" = ग़र्ज़ غرض प्रयोजन, कार्य्य। "खवाए" = खवाए, खिलाए, खिला दिये।

वार्तिक तिलक।

जैसे नेहवती गऊ अपने बछड़े के पीछे फिराकरतीहै

वैसेही श्रीभगवान ऋपने भक्तोंके संगसंग सदा फिरा-करते हैं।

निष्किञ्चन नाम "हरिपाल" ब्राह्मण।

श्रीहरिपालजीने एक ब्राह्मण के धाम (घर) में जन्म लिया। संतोंमें बड़ा प्रेम रखते ऋौर भारी साधु-सेवा कियाकरतेथे; इसीमें ऋापने घरका सब धन उठा दिया, बरंच महाजनोंसे कई सहस्र रुपये ऋण भी लेकर साधु भक्तों को खिला दिये; यहां तक कि ऋाप का नाम "निष्किञ्चन" प्रसिद्ध होगया।

जब ऋण भी नहीं मिलने और काम नहीं चलने लगा, तो साधुसेवाही के निमित्त चोरीपर पड़े, इस प्रकारसे कि हरिविमुखोंही का धन लेते ऋौर भगवद्भक्तों को कदापि कुछ कष्ट नहीं देते थे। एक बेर कुछ साधु ऋापके द्वार पर ऋा निकले। उनके भोजन के निमित्त ऋपनी धर्मपत्नी से बातचीत करने लगे॥

(२८९) टीका। कवित्त। (८४२-२८९ = ५५३)

बैठे कृष्ण रुक्मिनी महल, तहां सोच पस्यो, हस्यो मन साधु सेवा, साहरूप कियो है। पूछी "चले कहां?" कही "भक्त है हमारो एक" "मैहूं ऋाऊं?" "ऋाऋो"; ऋाये जहां पूछि लियो है॥ "ऋजू मग चल्यो जात बड़ो उतपात मधि, कोउ पहुंचावै, देवौं," लै रुपैया दियो है। "करोसमाधान संत; मैं लिवाइ जाऊं इन्हें;"

जाइ बनमांझ, देखि बहु धन, जियो है। २३८।
(६२९-२३६=३९३)

"महल" = محل अन्तःपुर, रनिवास। "जियो है" = जी गए हैं, प्राण आए हैं, अति हर्ष को प्राप्त हुए हैं।

वार्तिक तिलक।

जब घरमें कुछ नहीं ठहरा तो आप बड़े विकल हुए। उसी समय श्रीकृष्णभगवान् का मन भी, कि जो श्रीद्वारका के अन्तःपुरमें श्री रुक्मिनी महारानी जी के साथ विराज रहे थे, भक्तजीकी ओर खिंचगया कि "हम विश्वम्भर कहलाते हैं और हमारे ही भक्त के पास इस क्षण साधु सेवा के अर्थ कुछ नहीं है"। कहां तो श्री रुक्मिणी महारानी जी की परम प्रीतिमें मोहित थे, कहां भक्त की साधुसेवा-निष्ठाने भगवान् का मन हरलिया। उठते देख महारानी जी ने पूछा कि "चले कहां?" हरि ने उत्तर दिया कि "अमुक स्थानमें मेरा एक भक्त है, मैं उसीके हां जाताहूं श्रीजीने पूछा कि "मैं भी आऊं? (चलूं)"॥ हरि ने कहा "आओ, चलो"

सरावगी साहूकार और साहूकारनी के रूप में चल के दोनों, जहां श्री निष्किंञ्चन भक्त अपनी धर्मपत्नी से बातें कररहे थे, आपहुंचे। भक्त जी के पूछने पर साहूकार जी बोले कि "मार्ग के बड़े २ उत्पात में चलना है, सो यदि कोई हमलोगों को पहुंचा देवै तो उसको रुपए दें"। श्रीनिष्किञ्चन जी ने यह बात

स्वीकार कर ली; और साहूकार जी ने कुछ रुपए दिये। इस द्रव्य को भक्तजी ने अपनी धर्मपत्नीको देकर कहा कि "तब तक तुम इससे सन्तों का कुछ समाधान करो, इतने में मैं इन लोगोंको पहुँचाने को लिवा जाऊं"। साहूकार तथा साहूकारनी के साथ आप चले; बन में जा यह देख हर्षित हुए कि इन हरिविमुखों के पास धन गहने बहुत हैं॥

[२९०] टीका। कवित्त। [८४२-२९० = ५५२]

देखें जो निहार, माला तिलक न सदाचार, 'होयँगे भण्डार जोपै धन इतो लायो है। लीजिये छिनाइ "यह वारि" कहै "डारि देवौ;" दियौ सब डारि, छला छिगुनीमें छायो है॥ अँगुरि मरोरि, कही "बड़ो तूं कठोर अहो" "तो कों कैसे छोड़ौं सन्त जेवैं मोको भायोहै। प्रगट दिखायो रूप सुन्दर अनूप वह, "मेरे भक्त-भूप" लैकैं छाती सों लगायो है॥ २३७॥ (६२९-२३७=३९२)

वार्तिक तिलक।

आपने देख भाल लिया कि 'साहूकार के कोई संस्कार वैष्णव सदाचारानुसार अर्थात् माला तिलक इत्यादि कुछ नहीं है और न भगवत नाम ही उच्चारण करता है, परन्तु साहूकार साहूकारनी दोनोंके अंगोंपर धन गहने लदे हुएहैं इसलिये बिचारने लगे कि 'श्री इनके भंडार बहुत धन से भली भांति भरे हैं, तब तो ये इतना धन साथ लाए हैं; और इतने धनके हाथ

लगने से संतों का भारी भण्डारा होगा, सो इसको छीन लेना चाहिये; ऐसा मन में ला उन दोनों से बोले कि "एकही-बेर-कहने पर सब धन गहने धर दो"। दोनों ने अपनेतईं असहाय जान, इनको धनु बाणादिक हथियार लिये देख, डरकेमारे सब कुछ उतार दिये, पर केवल एक छल्ला मात्र साहूकारनी (वा साहूकार) की अंगुली में रह गया। वह भी आपने अंगुली मरोड़कर छीन ली। सुकुमारी बोली कि "हा निगुड़ा! तू बड़ा ही निठुर है!" आपने उत्तर दिया कि "मुझे इसका छोड़ना कैसे अच्छा लग सकता है? क्योंकि इस छल्ले में कई संतों का भोजन हो सकता है"। धन ले, दोनों को वहीं बाट मे छोड़, आप साधुओं के भोजन की चिन्ता में अपने घर की ओर लपके; थोड़ी ही दूर आये थे कि प्रगट हो भगवान ने सुन्दर अनूप युगल मूर्ति से भक्तजी को दरशन दिये। श्रीनिष्किञ्चन जी ने साष्टांग दण्डवत् कर वह सब भूषणादि श्रीदम्पति के कमल चरणों के सामने रख कर निवेदन किया कि "सर्कार! इस में जो २ अनूठे २ गहने हैं सो आप दोनों के ही योग्य हैं; कृपाकर पहिनिये। और शेष को यह दास घर लेजाकर संतों को खिला देगा, साधु लोग बाट जोहते होंगे"। प्रभु ने आपको "भक्तभूप!" कह के छाती से लगा लिया और वह

सब धन भक्तभूप जी को ही दे, आप युगल अखण्डैक नित्य किशोरमूर्त्ति अन्तर्धान हो गये॥

श्रीभक्तभूप जी की जय; । सांचेमन-मीत सर्कार की जय॥

(दो०) तीन टूक कोपीन के, अरु भाजी बिन-नौन।
तुलसी, रघुपति उर बसे, इन्द्र बापुरो कौन?

श्री साक्षीगोपाल जी के भक्त।

(२९१) टीका। कवित्त (८४२—२९१=५५१)

"गौड़" देश वासी उभै विप्र, ताकी कथा सुनो; एक बैश वृद्ध, जाति वृद्ध, छोटो संग है। और और ठौर फिरि आए फिरि आए "वन," तन भयो दुखी; कीनी टहल अभंग है॥ रीझो बड़ो द्विज "निज सुता तोको दई;" "अहो रहो नहीं चाह मेरे;" लई विनै रङ्ग है। साखी दै गोपाल; "अब बात प्रतिपाल करो" टरो कुल, ग्राम, भाम, पूछ्यो सो प्रसंग है॥ २३८॥ (६२९—२३८=३९१)

वार्त्तिक तिलक।

गौड़ देश (उड़ैसा) के वासी दो ब्राह्मण, तिन की कथा सुनिये। एक बूढ़ा, जाति का कुलीन, और दूसरा युवा सामान्य कुल वाला, दोनों साथ साथ तीर्थयात्रा को चले थे। और और ठौर फिर के, फिर श्रीवृन्दावन में जब आये तब कुलीन वृद्ध ब्राह्मण दुखी हुए। छोटे विप्र जी ने (जो साधु सुभाव तो थे ही) दुखी

बूढ़े की अभंग सेवा की; अर्थात् दिनरात टहल में भली भांति तत्पर रहे। अरोग होने पर बूढ़ा ब्राह्मण अति प्रसन्न हुए और श्रीयुवा ब्राह्मणजी से बोले कि "हे विप्र ! मैंने तुमको अपनी लड़की दी"।

इन्होंने उत्तर दिया कि "ओह ! मुझे तो आप से कुछ चाह नहीं थी"। वृद्धदेव के बड़े आग्रह से श्री गोपाल जी को साक्षी रख कर इनने विवाह स्वीकार कर लिया॥ जब घर आये, तब इन्होंने कहा कि "देवता जी ! अब आप अपना बचन प्रतिपाल कीजिये"॥

स्त्री तथा कुल और ग्राम के लोगोंने 'बचन से टर (टल) जाने को कहा और (साथही) सारा प्रसंग पूछा॥

(२९२) टीका । कवित्त । (८४२--२९२=५५०)

बोल्यो छोटो विप्र छिप्र दीजियै कही जो बात, तिया सुत कहैं "अहो सुता याके जोग है ?" द्विज कहै "नाहीं कैसे करौं ? मैं तो दैन कही;" कही कहो "भूलि भयो, विथा को प्रयोग है"॥ भई सभा भारी, पूछ्यो "साखी नर नारी ?" "श्रीगोपाल बनवारी, और कौन तुच्छ लोग है"। "लेवौ.जू लिखाइ जोपै साखी भरैं आइ तौपै व्याहिबेटी दीजै, लीजै, करौ सुख भोग है"। २३१॥ (६२१–२३१=३९०)

वार्त्तिक तिलक।

छोटे विप्र जी बोले कि "आपने जो बात कही है सो शीघ्र (छिप्र) दीजिये"। स्त्री और पुत्र ने (पूरा

प्रसंग सुनकर) कहा कि "क्या लड़की इस के योग्य है ?" बूढ़े विप्र जी ने उत्तर दिया कि "मैं नहीं कैसे करूँ ? मैंने तो देने को अवश्य कहा है"। तब सब ने सिखाया कि "कह दो कि 'दुख समय की बात है, चूक हुई, भूल से कह दी गई होगी' " ॥

इसकी बड़ी भारी सभा हुई। सभा ने पूछा कि "कोई नर वा नारी साक्षी है ?" आपने कहा कि "और तुच्छ लोगों का क्या कहना; साक्षी तो स्वयं श्रीगोपाल बनमाली जी ही हैं"।

बूढ़े की ओर से कहा गया कि "पत्र लिखायलीजै कि यदि गोपाल जी आके साषी भर देवें, तो बेटी आप के ही साथ ब्याह दी जायगी, कन्या लेजाकर सुख भोग कीजियेगा" ॥

(२९३) टीका। कवित्त। (८४०-२९३=५४९)

आयौ बृंदाबन, बनवासी श्रीगोपाल जू सो बोल्यो "चलो साखीदेवौ, लईहै लिखाइकै"। बीते कैऊ याम तब बोले स्याम सुन्दरजू "प्रतिमा न चलै" "तौपै बोले क्यों जू भायकै" ? "लागे जन संग, युग सेर भोग धरौ रंग, आधे आध पावैं, चलौं नूपुर बजाय कै। धुनि तेरे कान परै; पाछें जिनि दीठि करै; करै रहौं वाहि ठौर कही मैं सुनाय कै ॥ २४० ॥ (६२९—२४०=३८९)

वार्तिक तिलक।

आप आके श्री वृन्दावनबासी गोपाल जू से बोले

कि "ठाकुर जी! पंचायत में मैं ने पत्र लिखवा लिया है, कृपा करके चलिये साखी दीजिये" कई पहर। व्यतीत हुये, न कुछ उत्तर मिला न श्री विप्र जी ने कुछ भोजन किया; तब प्रसन्न होकर श्री श्याम सुन्दर जी ने कहा कि "प्रतिमा चलती नहीं है"। तो आप ने पूछा कि "यदि प्रतिमा चलती नहीं है तो कृपा करके बोलती क्यों कर है?"।

श्री वनमाली जी ने प्रसन्न होकर कहा कि "जब संग चलूं तो दो सेर भोग अर्पण किया करना हम दोनों आधा आधा पाया करेंगे; चलतें समय मेरे चरणों के नूपुर बजते चलेंगे और उनकी ध्वनि तुम्हारे कानों में पड़ा करेगी; जिससे तुम अपने साथ साथ मेरे चलने की प्रतीति करना। मैं सुनाके कहे देता हूँ कि "पीछे दृष्टि न डालना, जहाँ फिर के देखोगे वहाँ से मैं आगे न बढूंगा"॥

(२९४) टीका। कवित्त। (८४२—२९४=५४८)

गए ढिग गांव, कही 'नेकु तौ चितांव' रहे चितएतैं ठाढ़े दियो मृदुमुसिकाय कै। "ल्यावौ जू बुलाय"; कह्योआय "देखौ आए आप" सुनतहि चौंकि सब ग्राम आयौ धाय कै॥ बोलिकै सुनाई साष; पूजि हिये अभिलाष, लाख लाख भाँति रंग भस्यो उर भायकै। आयो न सरूप फेरि, विनै करि राख्यो घेरि, भूप सुख टेरि दियो अचलौं बजायकै॥ २४१॥ (६२९—२४१=३८८)

जब गाँव के पास पहुँचे तो भक्तराजजी ने अपने मन में कहा कि "तनक देख तो" लूं देखतेही श्री बनमाली गोपाल जी वहीं खड़े रह गये, और मधुर मुसक्याय कर कहा कि "उन लोगों को यहीं बुला लावो"।

गाँव के भीतर आकर आपने कहा कि "देखो श्री साक्षी गोपाल जी कृपा करके गाँव के बाहर आबिराजे हैं" सुनते ही चौंक कर सब ग्रामवासी दौड़कर आटूटे। श्री गोपाल जी बोले, और सुन्दर साक्षी दी। युवा ब्राह्मण जी का अभिलाष पूरा हुआ हृदय में लाख लाख प्रकार से प्रेम छा गया।

श्री गोपाल जी की वह प्रतिमा श्री वृन्दावन को लौट नहीं गई, बरन वहाँ के राजा तथा और प्रेमियों ने श्री साक्षी गोपाल जी को अपने विनय बल से घेर कर वहीं रक्खा।

सब सुखी हुये। और यह बात विदित है ही कि उड़ैसा देस में आज तक श्री साक्षी गोपाल जी विराजमान हैं॥

(वि०) "कोशलपाल कृपालु कल्पतरु,
द्रवत सकृत सिरनाए"॥

श्रीरामदासजी

(१९१) टीका कवित्त। (८४२—२९५=५४१)

द्वारिकाके ढिगही डाकौर एक गांव रहे, रहे राम-

दास भक्त भक्ति या को प्यारियै। जागरन एकादशी करै रनछोर जू के, भयौ तन वृद्ध, आज्ञा दई नहि धारियै॥ बोले भरि भाय "तेरौ आयबौ सह्यौ न जाय चलौं घर धाय तेरे ल्यावौ गाड़ी मारियै। खिरकी जु मन्दिर के पाछे तहाँ ठाढ़ो करौ, भरौ अंकवारी मोकों बेगही पधारियै॥ २४२॥(६२९-२४२ ३८७)

वार्तिक तिलक।

श्रीद्वारका जी के निकट (सातकोस) डाकोर (हीरा कोरक) नाम के एक गांव में श्रीरामदास जी रहते थे। आपको श्रीभगवान् की भक्ति अति प्रिय थी। श्री रणछोर भगवान् के हां प्रति एकादशी की रात को जागरन कीर्त्तन उत्सव हुआ करता था, उसमें आप भी बराबर पहुँचा करते थे, यह आप का नियम था। आप बूढ़े हुए, तो भगवान् ने कृपा कर आज्ञा दी कि "तुम इस अवस्था में अब सात कोस आने जाने का कष्ट न सहाकरो"॥ परन्तु आपने जागरन के आनन्द में साथ देना नहीं छोड़ा।

भगवान् ने प्रेम तथा कृपा पूर्वक कहा कि "तुम्हारा आना मुझ से सहा नहीं जाता; सो तुम शीघ्र मुझे अपने घर ही ले चलो। इसके योग्य एक गाड़ी ले आओ। मन्दिर के पीछे जो खिड़की है उसी के सामने गाड़ी खड़ी रखना। अपने अँकवार में लेके मुझे उस गाड़ी पर लेटा देना और बड़ी त्वरा से गाड़ी हांक ले जाना"॥

(२९६) टीका । कवित्त (८४२–२९६=५४६)

करी वाही भांति, आयौ जागरन गाड़ी चढ़ि; जानी सब 'वृद्ध भयो, थकी पांव गति है'। द्वादशी की आधी रात लैकै चल्यो मोद गात, भूषण उतारि धरे, जा की-सांची रति है ॥ मंदिर उघारि देखैं, परोहै उजारि तहां; दौरे पाछे जानि; देखि कही कौन मति है। बापी पधराय हांकि जाय सुखपाय रह्यो; गह्यो चल्यो जात आनि; मार्‍यो घाव अति है ॥२४३॥ (६२९–२४३=३८६)

वार्तिक तिलक ।

श्रीरामदास जी ने वैसाही किया। गाड़ी पर चढ़के जागरन कीर्त्तन के उत्सव में आए। लोगोंने अनुमान किया कि 'बूढ़े होने से पांवों की शक्ति थक जाने के कारण अबकी गाड़ीपर आए हैं'। द्वादशी की आधी रात के समय भगवत उसी ढंगसे आपके साथ गाड़ी पर चले; आपके आनन्द की वार्त्ताही क्या है ? हां, श्रीभगवान् को गाड़ी पर चढ़ा लेचलने के पहिले श्री रामदास जीने भूषण सब उतार कर मन्दिर ही में छोड़ दिए; क्योंकि आप द्रव्य धन के भूखे तो थे ही नहीं, आपको तो केवल श्रीभगवत के चरणों की सच्ची चाह है ।

बड़े भोर जब मन्दिर खोलागया तो सबने देखा कि उजाड़ पड़ा है। जान गए कि रामदास ही लेगए। लोगोंने आपकी पीछा किया, दौड़कर समीप पहुँचे

कि जहां से गाड़ी दिखाई देने लगी, तथा आपने भी देखा कि पीछाकरनेवाले आपहुँचे। आपको भारी चिन्ता हुई कि अब क्या बुद्धि चलाऊँ?

भगवत ने आज्ञा की कि "उस समीपस्थ वापी में मेरी प्रतिमा छुपा दो"। ऐसा ही करके आप गाड़ी पर पांव फैला चैन से लेट रहे। गाड़ी धीरे धीरे हांक दी (चला दी, खड़ी नहीं रक्खी)। वे लोग आपहुँचे; गाड़ी जो चली जारही थी उसको पकड़ कर श्रीराम दासजी को बड़ी मारमारी बरन आप की देह में बरछी चुभा दी॥

(२९७) टीका। कवित्त। (८४२–२९७=५४५)

देखे चहुंदिशि गाड़ी; कहुंपै न पाये हरि; करि पछतावो, कहैं "भक्त कै लगाई है"! बोलि उठ्यो एक "एहि ओर यह गयो हुतो;" जाय देखें बावरीकों लोहू लपटादई है॥ "दासकों जु डारी चोट; ओट लई अंग मैंही; नहीं मैं तो जाऊँ" विजै मूरति बताई है॥ "मेरी सम सोनो लेहु;" कही जन "तोलि देहु" "मेरे कहां?" बोल्यो "बारि तिया कै;" जिताई है॥ २४४॥ (६२९–२४४=३८५)

"विजय"=दूसरी। पाठान्तर "गरी" (गाड़ी)

वार्तिक तिलक।

मारपीट के अनन्तर उन सब ने उस गाड़ी में चारो ओर श्रीभगवान् को ढूंढ़ा, परन्तु कहीं नहीं पाया। तब वे सब पछताने लगे कि 'व्यर्थही हम ने भक्त को

कलंक लगाया तथा चोट लगाई'! इतने में उन में से एक बोल उठा कि "मैंने रामदास को देखा था कि उस बावली की ओर गया था"। सबने बावली में जादेखा जल में रुधिर छाया हुआ था! तब वे सब चिन्तित तथा चकित हुऐ।

श्री भगवान ने आज्ञा की कि "मेरा भक्त मुझे मेरी आज्ञा से ले चला है; तुमने जो मेरे भक्त को मारपीट की सो मैंने अपने शरीर पर ले ली है, देखो! मेरेही लुहू से बावड़ी रुधिरमय हो रही है; तुमने बुरा किया; तुम सब फिर जाव; तुम्हारे साथ मैं नहीं जानेका; अमुक ठिकाने मेरी दूसरी मूर्त्ति है तुम उस्कोही ले जाकर पधरालो। और मेरी इस प्रतिमा के तुल्य सोना लेके लौट जाव"।

पुजारियों ने मांगा कि "अच्छा आप सोना तौल दीजिये" प्रभु ने आप को (रामदास जी को) आज्ञा दी कि "तौल दो"। आप बोले कि "भला मेरे पास सोना कहां है?" प्रभु ने उत्तर दिया कि "रामदास जी! अपनी स्त्री के कान की बाली को मेरी मूर्त्ति के तुल्य तौल के दे दो"।

यह कह फिर आप को भगवत् ने जिता दिया॥

(२९८) टीका। कवित्त (८४२—२९८=५४४)।

लगे जब तौलिबे कों, बारी पाछे डारि दई, नई गति भई, पल उठै नहीं बारी को। तब तो खिसाने

भए, सबै उठि घर गए, कैसें सुख पावैं फिस्यो मतिही मुरारी को ॥ घरही विराजे आप, कह्यो भक्ति को प्रताप, जाप करै जोपै फुरै रूप लाल प्यारी को। बलि-बंध नाम प्रभु बांध बलि भयो तब; आयुध को छत सुनि आए चोट मारी को ॥२४५॥ (६२९−२४५=३८४)

वार्तिक तिलक।

जब वे श्रीभगवतप्रतिमा के साथ सोने की उस बाली को तौलने लगे, तो यह नई गति हुई कि प्रभुप्रताप से बाली ऐसी भारी हो गई कि बाली वाली पलरा पृथवी पर से उठीही नहीं। भगवत ने निज मूर्ति को हलका करलिया; यह पल्ला ऊपर को उठ गया। तब तो पुजारीसब क्रोधित लज्जित हो हारकर घर लौट गए, यह कहते हुए, कि "रामदास के घर भगवत भला क्या सुख पावैंगे? पर प्रभु की मति ही उलटी हो गई"।

श्रीसर्कार अब आपके घर ही में आ विराजमान हुए। भक्ति का प्रताप कहा (दिखलाया)। श्रीरामदासजी भजन जाप ध्यान में मग्न रहने लगे।

देखिये, जो भक्त भगवन्नाम जपते हैं तो युगलसर्कार के रूप अनूप उनके हृदय में फुरते हैं (प्रकाश होते हैं)।

प्रभु ने जब "बलि" को बांधा तब से "बलिबन्ध" नाम हुआ और राजाबलि के यहाँ प्रभु बिराजे; और

जब श्रीरामदास जी हथियार के चोट से घायल हुए तब प्रभु आप के हां विराजने लगे और तभीसे प्रभु का "आयुधक्षत" ऐसा नाम भी सुना जाता है।

अभी तक घाव पर पट्टी बांधी जाती है। अबतक मन्दिर को जब२ सुधारने की आवश्यता होती है, तब२ मूर्ति को रामदास भक्त जी के ही वंश का कोई जन उठाता है; किसी दूसरे से वह प्रतिमा उठती ही नहीं। इससे जाना जाता है कि अभी तक भगवत वहाँ विराजते हैं॥

---

(२९९) छप्पयछंद। (८४२-२९९=५४३)

बच्छ हरन पाछैं विदित सुनौ संत अचिरज भयो॥ जसूस्वामि के वृषभ चोरि ब्रजबासी ल्याये। तैसेई दिये श्याम बरष दिन षेत जुताये॥ नामा ज्यों नँददास मुई इक बच्छि जिवाई। अंब अल्हकों नये प्रसिद्ध जग गाथा गाई॥ बारमुखी के मुकुट कौ, श्रीरङ्गनाथ को शिर नयो। बच्छ हरन पाछैं विदित सुनो संत अचिरज भयो (४९) ॥५४॥ (२१३-५४ = १५९)

वार्तिक तिलक।

श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा जी का बच्छ हरण विस्तार

पूर्वक गाया हुआ है। वैसा ही आश्चर्य्यजनक चरित्र उसके पीछे (कलियुग में) हुआ सो विदित है, सन्तों के सुन्ने योग्य है॥

(१) श्री जसूस्वामी के बैल ब्रजबासी चोर चुरा-लाए; सर्कार ने कृपा करके वैसेही बैल स्वामी जी को दिये जिनसे वर्ष भर आपने खेत जुतवाए। फिर चोरों ने आपको बैल फेर दिये।

(२) श्रीनामदेव जीकी नाईं नन्ददास जी ने भी रामकृपा से मरी बछिया को जिलादिया।

(३) श्रीअल्ह जी के लिये आम्ब के वृक्ष नीचे को झुक आए, सो प्रसिद्धही है; जगत में यह यश सब गाते हैं।

(४) बारमुखी का मुकुट कृपाकर धारण करलेने के लिये श्रीरङ्गनाथ कृपालु जी ने अपना सीस नवा दिया।

हे साधुवृन्द! ये सब कथा सुनिये; द्वापर में बच्छ हरण चरित्र के पश्चात् कलियुग में भी ये आश्चर्य्य जनक वृत्तान्त हुए सो प्रसिद्ध ही है।

१. श्रीजसूस्वामी जी	३. श्रीअल्ह जी।
२. श्रीनन्ददास जी	४. एक बारमुखी जी॥

श्रीजसूस्वामीजी।

(३००) टीका। कवित्त। (८४२-३००=५४२)

"जसू" नाम स्वामी, गङ्गा जमुना के मध्य रहैं, गहैं साधुसेवा ताकी षेती उपजावहीं। चोरी गए बैल ताकी इनकौं न सुधि कछू; तैसे दिए श्याम, हल जुटै

मन भावहीं॥ आए ब्रजवासी पैंठ, वृषभ निहारि कही "इन्हैं कौन ल्यायो?" घर जाय देखि आवहीं। ऐसे बार दोय चारि फिरेऊ, न ठीक होत, पूछी, पुनिल्याए आए, उन्हैं पै न पावहीं॥२४६॥ (६२९–२४६=३८३)

वार्तिक तिलक।

अन्तर्वेद में अर्थात् श्रीगङ्गायमुनाजी के बीच वाले प्रदेश (ग्राम जसू) में "श्रीजसूजी" नाम एक स्वामी रहते थे; आपने साधु सेवा वृत्ति धारण की थी, इस निमित्त आप खेती किया करते थे। एक समय आप के बैलों को ब्रजबासी चोर चुरा लेगए। आपको बैलों के चोरी जाने की कुछ सुधि नहीं हुई, क्योंकि श्याम कृपालु ने आपको ठीक वैसेही बैलों का जोड़ा अनुग्रह किया। वे भी भली भाँति खेत जोता करते थे। हां, इस जोड़े को स्वामीजी अधिक प्यार किया करते थे।

इसी प्रकार से एक वर्ष के लगभग व्यतीत हुआ एक दिन हाट में वेही चोर आए और श्रीस्वामी जी के हां दोनों बैलों को देख चकित हो आपस में बोले कि "इनको हमारेहाँ से यहां लाया कौन?"

वे घर पहुंचे तो वहाँ भी बैलों को बँधे देखा, यहाँ फिर आए तो यहाँ भी देखे। ऐसेही दोचार (कई) बेर यहां वहां आए गए, दोनों जगह वैसाही जोड़ा

देख अति भ्रमित और चकित हुए; चित्त में कोई एक बात ठीक नहीं होती थी। निदान स्वामी जी से पूछा; आपने उत्तर दिया कि "बैल तो मेरे रामजी के हां सदा बने हैं खेत जोतते हैं।" तब घर जा बैलों को चोर लोग आपके पास लेआए। परन्तु यहां आतेही इन बैलों को न पाया (ये अदृश्य हो गए) केवल वेही बैल फिर रह गए ॥

(३०१) टीका । कवित्त । (८४२-३०१=५४१)

बड़ोई प्रभाव देख्यो, तैसे प्रभु बैल दिये; भयो हिये भाय, जाय पायनि में परे हैं। निपट अधीन दीन भाषि; अभिलाष जानि, दयाके निधान स्वामी शिष्य लैकै करे हैं॥ चोरी त्यागि दई; अति शुद्ध बुद्धि भई; नई रीति गहि लई; साधु पन्थ अनुसरे हैं। अन्न पहुँचावैं, दूध दही दै लड़ावैं, आवैं, सन्त गुण गावैं वै अनन्त सुख भरे हैं ॥२४७॥ (६२९-२४७=३८२)

"लड़ावैं"=प्रेम करते थे।

वार्तिक तिलक।

चोरों ने आपका यह बड़ा भारी प्रभाव देखा कि प्रभु ने कृपा करके आपको वैसेही बैल देदिये थे, इस से उनके हृदय में बड़ा भाव उत्पन्न हुआ, और आके वे स्वामी जी के पावों में लपट गये। उनके निपट आधीन दीन वचन सुन, उनका अभिलाष देख, दयानिधि स्वामी जी ने उनको अपने शरण में लेके भग-

वत मन्त्र का उपदेश किया। उनने चोरी कर्म त्याग दिया, उनकी मति अति विशुद्ध हो गई; उनने नवीन रीति धारण की; वे सन्तों के पन्थ पर चले; गुरु स्थान में भगवत तथा साधुओं के लिये अन्न और दूध दही इत्यादि पहुंचाते; बड़ा अनुराग किया करते; साधुसंग में उपस्थित होते; भक्ति भक्त भगवंत तथा गुरु के यश गाते; अनन्त सुख पाते; और, परमा नन्द में छके रहते थे ॥

(दो०) "हरि गुण ग्राम नामरत, गत ममता मद मोह ।
ताकर सुख सोइ जानै, चिदानन्द सन्दोह" ॥

श्री नन्ददास जी वैष्णव-सेवी ।

(३०२) टीका । कवित्त । (८४२—३०२=५४०)

निकट बरैली गांव, तामै सो हवेली, रहैं नन्ददास विप्र भक्त साधु-सेवा-रागी हैं। करै द्विज द्वेष तासों, मुई-एक-बछिया लै, डारि दई खेत मांझ गारी जक लागी ॥ हत्या कौ प्रसंग करैं, सन्त जन हू सो लरैं, हिन्दू सो न मारै, यह बड़ोई अभागी है। खेत पर जाय, वाही लियो है जिवाय, देखी द्वेषी परे पाय, भक्ति भाय मति पागी है ॥२४८॥ (६२९—२४८=३८१)

वार्त्तिक तिलक ।

बरैली के समीप एक ग्राम "हवेली" में श्रीनन्द-दास नाम एक ब्राह्मण साधुसेवा नैष्ठिक रहते थे।

एक दुष्ट गोतिया आप से द्वेष रखता था, उसने एक मरीहुई बछिया आपके खेत में डालदी; झूठमूठ आप को हत्या दोष लगाया। बहुत बड़बड़ाता रहा। सन्तों से भी वे सब विवाद बखेड़ा करते थे कि यह हत्यारा है हिन्दू नहीं है तुम लोग कैसे साधु हो जो इसके हां हो, इत्यादि।

श्री नन्द दास जी खेत पर गए, और आपने उस बछिया को श्री भगवत यश सुनाके जिला लिया। तब तो द्वेषी लोग आपके चरणकमल पर गिरकर शुद्ध भाव भक्ति से हरिशरणागत हुए॥

श्रीअल्ह जी [अर्चावतारनैष्ठिक]

(३०३) टीका। कबित्त। (८४२—३०३=५३९)

चले जात अल्ह, मग लाग बाग दीठि पर्यो, करि अनुराग हरि-सेवा विस्तारियै। पकि रहे आम्ब मांगे माली पास भोग लिये; कह्यो "लीजै"; कही; झुकि आई सबडारियै॥ चल्यौ दौरि राजा जहां, जायकै सुनाई बात, गात भई प्रीति आशु तट * पाय धारियै। आवतहीं लोट गयो, "मैं तो जू सनाथ भयो, देवो लै प्रसाद" भक्ति भावहीं सँभारियै॥ २४९(६२९—२४९=३८०)।

पाठान्तर "अघुठत"=गिरते पड़ते॥

वार्त्तिक तिलक।

श्रीअल्ह जी महाराज की भगवत-प्रतिमा--निष्ठा की महिमा प्रशंसा किससे हो सकती है; एक दिन आप किसी

तीर्थ को जाते थे, मार्ग में आपने पक्के रसालों की एक राजबाटिका देखी ।" भएउ रमापति-पद-अनुरागा" वहीं बड़े प्रेम से श्रीसर्कार की षोडशोपचार पूजा करने लगे । भगवत भोग के लिये माली से आम्ब मांगे; उसने रूखेपनसे कहा "तोड़ लो"। आपने वृक्ष पर दृष्टि डाली; वहीं पक्के आम्बों से लदी डालियां श्री सिंहासन के निकट झुक आई । आपने बड़ी सुगमता से रसालफल तोड़कर श्रीयुगलसर्कारको भोगलगाए ।

माली अपने राजा के पास दौड़ा गया, सब वार्त्ता जनाई । राजा आ आपके पदारविन्द पर लोटने लगा और प्रेम भाव में मग्न हो गया ।

वह बोला "मैं सनाथ हुआ, मुझे प्रसाद दीजिये" भक्ति भाव का माहात्म्य समझना चाहिये कि जहां ब्रह्मादिक सीस नवाते हैं वहां वृक्ष और महीपति का झुकना कौन सी बड़ी बात है ॥

बारमुखी जी ।

(३०४) टीका कवित्त (८४२—३०४=५३८) ।

बेश्या को प्रसंग सुनौ, अति रस रंग भस्यो भस्यो घर धन अहो ऐपै कौन काम कौ। चले मग जात जन, ठौर स्वच्छ आई मन, छाई भूमि आसन, सो लोभ नाहीं दाम कौ।। निकसी झमकि द्वार, हंस से निहारि सब, कौन भाग जागे भेद नहीं मेरे नाम कौ। मुहरनि पात्र

भरि, लै महन्त आगे धस्यो, ढस्यो दृग नीर, कही "भोग करौ श्याम कौ" ॥ २५० ॥(६२९—२५०=३७९)।

वार्त्तिक तिलक

एक दक्षिणी वेश्या जी की कथा बड़ीही रँगीली तथा सुन्ने योग्य है। इस्का घर धन से भरा था परन्तु किस काम का? क्योंकि वेश्या ही तो थी। वेश्याओं की बाहरी चमत्कार का कहना ही क्या, इस्के घर द्वार सब बड़ेही स्वच्छ तथा सुन्दर थे। एक दिन सन्तों का एक वृन्द इधर से जारहा था; इस जगह की विमलता वृक्षकी मनोहर छाया जलका सुभीता इत्यादि देख, साधुलोग यहीं टिक रहे, जहाँ तहाँ भूमि पर आसन जमादिये, ठाकुर के सिंहासन विराजमान किये। सन्त लोग कुछ धन वा पूजा प्राप्ति के लोभ से यहां नहीं ठहरे किन्तु भगवत-सेवा की सुगमता समझ रम रहे।

वारमुखीजी झमझम करती जो द्वारपर आनिकलीं, तो हंसों के दर्शन कर इनने केवल मनकी प्रसन्नता ही नहीं पाई, बरंच इनकी मति में भी निर्मलता आई। ये विचारने लगीं कि 'इन महात्माओं को मेरी जाति का भेद ज्ञात नहीं है। अस्तु, मेरे भाग्य का उदय तो निःसन्देहही हुआ है'। स्वर्णमुद्रोंसेभरी एक थाली श्रीमहान्त जी के आगे लारक्खी और दीनता तथा प्रेम से आँखों में आंसू भर हाथ जोड़ दण्डवत कर विनय किया कि "इस्से भगवत को भोग लगाइये, इस अधम पतित को

कृतार्थ कीजिये" ॥

(३०५) टीका कवित्त (८४२—३०५=५३७)।

पूछी "तुम कौन ? काके भौन में जनम लियो ?" कियो सुनि मौन, महा चिन्ता चित्त धरी है। "खोलिके निसंक कहो, शंका जनि मानो मन," कहि "बारमुखि" ऐपै पाय आय परी है॥ "भरो है भंडार घन करो अंगीकार अजू ! करिये विचार जोपै, तोपै यह मरी है"। "एक है उपाय हाथ 'रङ्गनाथ जू' को अहो कीजिये मुकुट जामैं जाति मति हरी है॥ २५१॥ (६३९—२५१ = ३७८)

वार्त्तिक तिलक

महन्त जी ने इनसे पूछा कि "तुम कौन हो ? और तुम्हारे माबाप कौन ?" यह प्रश्न सुन ये मौन हो रहीं और चित्त में बड़ी चिन्ता करने लगीं। श्रीमहान्तजी ने पुनः कहा कि "मन में कुछ शंका न लाओ, निःशंक होकर खोलके कहदो"। इनने, यह बतला कर कि "बारमुखी हूं" श्री महान्त जी के पदसरोज पर गिरके, प्रार्थना की कि "श्रीसीताराम कृपा से भण्डार धन से भरा है कुछ घटी नहीं है; पतित पावन सन्त कृपा कर के इस दुलतृण को अंगीकार करैं; और यदि कुछ बूझ विचार करने लगैंगे तौतो इस पापिन का मरण ही समझैं"।

साधु महात्माओं ने इनसे आज्ञा की कि हम राम कृपासे एक उपाय बताते हैं। इसकी सफलता श्री

रङ्गनाथ जी के हाथों में है, और वह यह है कि इस द्रव्य का अति उत्तम मुकुट बनवाकर श्री रङ्गभगवान को सप्रेम अर्पण करो" ॥

(३०६) टीका । कवित्त । [८४२—३०६=५३६]

"विप्रहू न छूऐ जाको, रंगनाथ कैसे लेत ?" "देत हम हाथ तो को रहैं इह कीजिये" । कियोई बनाय सब घर को लगाय धन; बनि ठनि चली थार मधि धरि लीजिये ॥ अस आज्ञा पाइके निसंक गइ मन्दिरमै; फिरी यों सशंक धिक तिया धर्म भीजिये । बोले आप "याको ल्याय आप पहिराय जाय" 'दियो पहिराय' नयो सीस मति रीझिये ॥ २५२ ॥ (६२९—२५२ = ३७७)

वार्त्तिक तिलक ।

बारमुखी जी ने कहा कि "जिस्को विप्र(मनुष्य) भी छूते तक नहीं, उस्को स्वयं श्री रङ्गनाथ भगवान् किस प्रकार से स्वीकार करैंगे ?" "तेरे हाथों से चढ़वाने तक हम सब यहीं ठहरेंगे; तू मुकुट बनवाव" ॥

इन्ने घर की सम्पूर्ण सम्पति लगाकर (कहते हैं कि तीनलाख के लागत का) एक जड़ाऊ मुकुट बड़ी श्रद्धा से बनवाया । वस्त्र शृङ्गार से बनठन के थाल में मुकुट को लेकर गाती बजाती धूमधाम से चलीं । ये आज्ञा पाकर मन्दिर में निशंक चली आईं परन्तु इस समय इनको मासिक धर्म हो गया; अति दुःखित लज्जित शंकित हो, ये पीछे हट अपने को धिक्कार

दे, सजल नेत्र भूमि पर गिर पड़ीं।

दीनवत्सल अन्तर्यामी प्रेमरसिक भगवत ने शीघ्रही पुजारी को आज्ञा की कि "बारमुखी को सादर लिवा-लाओ, वह अपने हाथों से मुकुट मुझे पहिरा जावे"। पुजारियों ने इनको प्रभु के निकट पहुंचा दिया। इनके हाथ न पहुंचने पर श्री दीनबन्धु कृपासिन्धु ने स्वयं अपना सीस इतना झुका दिया कि बड़-भागिनी ने हाथउठाकरबड़ेहीअनुरागसे श्रीसर्कारको मुकुट पहिना दिया। रिझवारकीजय। आपके प्रेमका क्या कहना।

(छं०) "मैं नारि अपावन, प्रभु जग पावन, करुणानिधि जनसुखदाई। राजीव विलोचन भवभयमोचन पाहि पाहि शरणाहि आई॥ बिनती प्रभु मोरी, मैं मति भोरी, नाथ! न मांगौं बर आना। पदपद्म परागा, रस अनुरागा, मम मन मधुप करै पाना॥

(दो०) बार बार बर मांगौं हरषि देहु श्रीरङ्ग!
पद सरोज अनपाइनी भक्ति, सदा सतसङ्ग॥"

---

(३०७) छप्पै। (८४२—३०७=५३५)।

और युगन तें कमलनयन, कलियुग बहुत कृपा करी॥ बीच दिये रघुनाथ भक्त संग ठगिया लागे, निर्जन बन में जाय दुष्ट कर्म कियो अभागे॥ बीच दियो सो

कहां? राम! कहि नारि पुकारी। आए सारँगपानि शोक सागर ते तारी॥ दुष्ट किये निर्जीव सब, दास प्राण संज्ञा धरी। और जुगन तें कमलनैन कलिजुग बहुत कृपा करी॥(५०)॥५५॥(२१३–५५ = १५८)

१ एक भक्त ब्राह्मण। २ इनकी धर्म पत्नी रामभक्त

दम्पति (भक्त विप्र सपत्नी)

वार्त्तिक तिलक।

दीनहित श्रीराजीवलोचन भवभयमोचन श्रीरामचन्द्र जी और युगों की अपेक्षा कलियुग में जीवों पर अधिकतर कृपा कर रहे हैं।

दो भक्तों के साथ मार्ग में ठग लगे; "श्रीरघुनाथ जी तुम्हारे हमारे बीच में हैं" ऐसा कहकर ठगोंने श्रीभक्तों का सन्देह निवटाया, परन्तु निर्जन बन में पहुंचते ही उन अभागे हत्यारों ने अति दुष्टता की कि पुरुष को मार डाला। भक्तस्त्री ने कहा कि "जिन राम जी को दुष्टों ने बीच में बताया था वे अब कहां हैं"? वहीं श्री शार्ङ्गधर जनरक्षक रघुवीर ने प्रगट हो दुष्टों को मार भक्त को जिलाया अपनेजनोंको शोकसमुद्रकेपार किया श्री रामजी सबयुगोंसे कलिमें अधिकतर कृपाकरते आते हैं॥

(३०८) टीका कवित्त। (८४२—३०८=५३४)

विप्रहरिभक्त करिगौनो चल्यो तियासंग, जाके दूनो

रंग, ताके बात ले जनाइये। मग ठग मिले द्विज पूछैं "अहो! कहां जात?" "जहां तुम्ह जात" या मैं मन न पत्याइये॥ पंथ को छुटाय, चाहैं बन मैं लिवाय जायँ, कहैं "अतिसूधो पैंड़ो" डर मैं न आइये। बोले "बीच राम" तऊ हिये नेकु धकधकी, कहै वह बाम "श्याम नाम कहां पाइये" ॥ २५३ ॥ (६२९-२५३=३७६)।

वार्त्तिक तिलक।

एक भक्त, जातिके ब्राह्मण, गौना कराके स्त्री को ले घर आते थे। पुरुष से स्त्री का अनुराग दूना चढ़ा बढ़ा था। इनकी कथा सुनिये॥ मार्ग में ठग मिले, साथ चले। भक्तविप्रजी ने पूछा कि "तुम सब कहां जाते हो?" ठगोंने उत्तर दिया कि "जहां तुम दोनों जाते हो"। इस उत्तर में ब्राह्मण भक्तजी को प्रतीति नहीं हुई क्योंकि ठग चाहते थे कि यथार्थ मार्ग को छुड़ाकर इन्हें बन को लिवा जायँ; उन सब ने बन मगको "बड़ा सीधा" बताया। ब्राह्मणजी के नहीं पतियाने पर दुष्टों ने श्रीरामजी को बीच में कहके इनका सन्देह घटाया; फिर भी आपके मन में कुछ कुछ धकधकी थी ही। परन्तु आपकी स्त्री आपसे भी अधिकतर प्रीति प्रतीति रखती थीं, भाग्यवती ने कहा कि "शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि रामजी का नाम बीच में देते हैं, भला श्रीरामजी का नाम सहज में कहां मिलता है"॥

(३०९) टीका कवित्त। (८४२—३०९=५३३)।

चले लागि संग, अब रंग कै कुरंग करी तिया पर

रीझे भक्ति साँची इन जानी है। गए बन मध्य ठग लोभ लगि मास्यो विप्र, छिप्र लै कै चले बधू, ग्रति बिलखानी है॥ देखै फिरि फिरि पाछैं; कहैं "कहा देखै? मास्यो तब" तो उचास्यो देखौं वाही बीच प्रानी हैं। ग्राए राम प्यारे, सब दुष्ट मारि डारे, साधु प्रान दै उबारे, हित रीति यों बखानी हैं॥२५४(६२९-२५४=३७५)

वार्त्तिक तिलक।

ब्राह्मण देवता ग्रपनी स्त्री की भक्ति प्रीति प्रतीति श्री सीतारामचरणों में देखकर उसपर बहुत रीझे ग्रौर मनमें बिचारा कि "चाहे दुष्ट कुरंग करैं चाहे रंग"। बन के ही मग से सब साथ साथ चले। बन के बीच में जाके ग्रभागे लोभी दुष्टों ने कुरंग किया, विप्र को मार डाला। ब्राह्मणी को बड़ी त्वरा से लिवाचले। ब्राह्मणी ग्रतिशय विलाप करती ग्रौर पुनः पुनः पीछे फिर फिर देखती जाती थी। दुष्ट बोले कि "तूने देखाही कि तेरे पति को हमने मार डाला; तो ग्रब तू फिरफिर देखती किस्को है?" इस देवी ने उत्तर दिया कि "उन प्राणनाथ के आने की प्रतीक्षा कर रही हूं कि जिनका नाम तुम सबों ने लिया था कि "हमारे तुम्हारे बीच में हैं" "राम" कह पुकारा।

ग्रभागों ने कहा "चल फूहरी! ये सब कहने की ही बात भर थी"। इतनेही में प्राणनाथ श्रीरघुनाथ तथा लाल लाड़ले लखन जी धनुष बाण कृपाण लगाए घोड़ों

पर चढ़े देखने में आए। प्रभु ने दुष्टों का बधकर मृतक साधु ब्राह्मण को जिला लिया; यों दरशन दे भक्त दम्पति को अत्यन्त सुखी किया; इनको इनके घर तक पहुँचा दिया। प्रभु की भक्तवत्सलता यों बखानी गई है॥

(३१०) छप्पै। (८४२—३१०=५३२)

एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति॥ तिलक दाम धरि कोइ, ताहि गुरु गोविन्द जानै। षट-दर्शनी* अभाव सर्वथा घट करि मानै॥ भांड़ भक्त कौ भेष हांसि-हित भँड़-कुट ल्याये। नरपति कै दृढ़ नेम ताहि ये पांव धुवाये॥ भांड़ भेष गाढ़ो गह्यो दरस परस उपजी भगति। एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति॥ (५१) ॥५६॥ (२१३—५६ = १५७)

वार्त्तिक तिलक।

एक भेषनिष्ठ राजा।

एक भागवत (भगवन भक्त) नृपति की कथा की ऐसी महिमा है कि इसके श्रवण से श्री हरिपद पद्म में भक्ति होती है। श्री ऊर्द्ध्वपुण्ड्र तथा श्री तुलसीजी की कण्ठी माला जिनके देखते थे, उनको ये बड़भागी अनुरागी महीप जी सर्वथा श्री गुरु और श्री हरि के

समान जानतेथे; षट दर्शनी * से भाव नहीं रखते थे भागवतों से सब को घट के मानतेथे। भांड़ों ने देखा कि 'इस राजाके हां हमारी तो पूछ पांछ कुछ नहीं; कण्ठी और खड़े-तिलक वालों काही यहां सनमान है'; इस्से भांड़ भागवतसाधुओं का भेष हाँस हित धारण कर राजा केहां पहुंचे, महाराज का यह प्रेम नेम दृढ़ था कि भेष के चरण अपने हाथों से धोलेतेथे, अतः उन भाड़ों को भी कराना पड़ा। भांड़ों को हंसभेष के प्रभाव, और भागवतवर के दर्शन तथा स्पर्श से, श्रीसीतारामीय भेष में भक्ति दृढ़ हो आई। इन भक्तभूप की कथा सुन्नेसे किस अधिकारी के चित्त में भक्ति न उपजैगी ?

---

(३११) टीका कवित्त । (८४२—३११=५३१) ।

राजा भक्तराज डोम* भांड़ को न काज होय, भोय गई, 'या को धन-हरी-को नदीजिये'। आए भेष धारि लै पुजाय नाँचैं दै के तारि नृपति निहारि कही यों निहाल कीजिये॥ भोजन करायेभरि मुहरनि थार ल्याय आगे धरि बिनय करी" अजू , लीजिये। भई भक्ति रासि बोले आवै बास, भावै नाँहि, बाँहि गहैं, रहै कैसें चले मति भीजिये ॥२५५॥ (६२९—२५५=३७४)

वार्त्तिक तिलक ।

एक राजा भक्तराज था इसके हां भगवतभेषधारी

को छोड़ डोम (गाने वालों) और भांड़ों को कुछ नहीं मिलता था; हरि भक्त राजा समझता था कि धन श्री हरि का है, दूसरों को नहीं देना चाहिये। भांड़ लोग सन्तों का भेष करके आए। पांव पुजवाके, ताली बजा बजाके श्रीठाकुर जी के सामने नाचे। राजा ने देखकर कहा "आप सबने मुझे निहाल कर दिया।" भूप ने उनको प्रेमसे भोजन कराया, थाली में स्वर्ण-मुद्रा भर आगे ला रखकर बिनय किया कि "यह अंगीकार कीजिये"। श्रीहरि कृपासे उनको बड़ी भक्ति उत्पन्न हुई, भेष सदा धारण किये ही रहे, धन की वासना जाती रही, वे कहने लगे कि "इस में से दुर्गन्ध आती है, हमको भला नहीं लगता है; हम लोग जाते हैं"। राजा ने उनके हाथ पकड़के कहा कि "क्यों चले? कृपा करके रहिये"। वे यह कहते चले गए कि "अब सांचीप्रीति भेष और भजन में हुई, अब वैराग तथा अनुराग ही में मति पग गई" ॥

नोट* वर्ण (१) ब्राह्मण (२) क्षत्री (३) वैश्य (४) शूद्र; आश्रम (१) ब्रह्मचारी (२) गृहस्थ (३) वानप्रस्थ (४) संन्यासी; षड्दर्शनी (१) उपनिषद् (२) न्याय (३) कर्मकाण्ड (४) तत्त्वविवेचन (५) योग, और (६) स्मृतियां—इन छः शास्त्रवाले। (श्लोक) वेदान्त,[1] तर्क,[2] मीमांसा;[3] सांख्य,[4] पातञ्जलं[5] तथा। धर्म-शासनमित्येतत प्राहुः शास्त्राणि षट् बुधाः ॥१॥

किसी ने कहा है (दो०) जोगी,[1] जंगम,[2] सेवड़ा,[3] सन्यासी,[4] दर्वेश[5]। छठएं दर्शन विप्र[6] को, जामें मीन न मेष ॥१॥

(११२) छप्पै। (८४२ —३१२=५३०)।

अन्तरनिष्ठ नरपाल इक, परम धरम नाहिन धुजी। हरि सुमिरण हरि ध्यान आन काहू न जनावै। अलगन इहि बिधि रहै; अँगना मरम न पावै॥ निद्राबस सों भूप बदन तें नाम उचास्यो। रानी पतिपर रीझि, बहुत बसु तापर वास्यौ॥ ऋषिराज सोचि कह्यो नारि सों, "आज भक्ति मेरी कजी"। अन्तरनिष्ठ नरपाल इक, परम धरम नाहिन धुजी। (५२)॥५७॥२१३-५७ = १५६)

एक अन्तर्निष्ठ राजर्षि तथा इन की रानी।

एक राजा अन्तरनिष्ठ (गुप्त) भक्त परम भागवत था। उसके बाह्यमें-फहराने वाली ध्वजा नहीं थी; अपनी हरि भक्ति हरिस्मरण हरि-ध्यान प्रगट होने नहीं देताथा। वह इसप्रकार से रहता था कि इसकी धर्म्म-

*"कजी"=जाती रही, क़ज़ा हो गई, चूक गई।

पत्नी भी इसकी भक्ति का मर्म नहीं पाती थी, अतएव यह उदास सी रहा करती थी।

नृपतिसे निद्रा में श्री बिहारी जी का नाम उच्चारण हुआ। इस्से इसकी भक्त रानी अपने पति पर अति रीझी और हर्ष से उसने प्रभात होते ही प्राणपति पर बहुत सा धन न्यवछावर किया।

राजर्षि ने अपनी रानीजी से इस धूमधाम और प्रहर्ष का कारण पूछा। रानीने अपने हर्ष का विषय विस्तार-पूर्वक कह सुनाया। राजाको भारी सोच हुआ और इनने अपनी रानीसे कहा कि "खेद की बात है कि आज मेरी अन्तरंग भक्ति जाती रही!"

(३१३) टीका कवित्त । (८४२—३१३=५२९) ।

तिया हरिभक्त कहै "पति पै न भक्त पायों!" रहै मुरझायो, मन सोच बढ़्यो भारी है। मरम न जान्यो निशि सोवत पिछान्यो, भाव बिरह प्रभाव नाम निकस्यो बिहारी है॥ सुनतही रानी प्रेम सागर समानी भोर सम्पति लुटाई, मानो नृपति जियारी है। देखि उत्साह भूप पूछ्यो, सो निबाह कह्यो; रह्यो तन ठौर, नाम जीव यौं बिचारी है॥२५६॥ (६२९–२५६ = ३७३)

वार्त्तिक तिलक।

एक अन्तरनिष्ठ भक्त राजर्षि जी की स्त्री हरिभक्ता थी, परन्तु उसको इस बात का बड़ा सोच बना रहता था कि "मैंने पति हरिभक्त भगवन्नामानुरागी नहीं पाया!" इसीसोचसे उसका मन मुर्झाया रहा करता था।

रानी राजर्षि के गुप्त भाव का मर्म नहीं जानती थी; एक रात स्वप्नमें भाव तथा बिरह के प्रभाव से राजा के मुख से श्रीबिहारी जी के नाम का उच्चारण हुआ। तब रानीने परम भागवत को पहिचाना और जाना कि 'महाराज स्मरणध्यान मानोगुप्त रखते हैं'। हरिनाम को श्रवण करतेही रानी प्रेमसिन्धु में मग्न हो अपने पति पर अत्यन्त रीझ गई। भोर होते बहुत अन्नवस्त्र और बहुत धन उसपर न्योछावर कर लुटाने लगी, हर्ष से फूली न समाती थी; मानो राजा ने नया जन्म पाया है।

राजर्षि ने यह उत्साह धूमधाम देखकर इस सुख का कारण पूछा; रानीने स्पष्ट रीति से सब कुछ कह सुनाया। सुनतेही राजा सोच से ठठक गया, कि 'जैसे ही नाम मुँहसे बाहर निकला, गुप्त नेम चलागया, वैसेही जीव भी शरीर से निकल जावै तो भला'। ऐसा विचार करने लगा; ऐसाही हुआ ॥

(३१४) टीका कवित्त। (८४२—३१४=५२८)।

देखि तन त्याग पति, भई और गति याकी; "ऐसे रतिवान मैं न भेद कछू पायो है! भयो दुःख भारी; सुधि बुधि सब टारी; तब नेकु न बिचारी, भावराशि हियो छायो है॥ निशि दिन ध्यान, तजे बिरह प्रबल प्रान, भक्ति रस खान, रूप कापै जात गायो है। जाके यह होय, सोई जानै रस भोय, सब डारै मति खोय; यामै प्रगट दिखायो है ॥ २५७ ॥(६२९–२५७=३७२)

वार्त्तिक तिलक।

जब रानी ने देखा कि पतिने शरीर त्याग करदिया तो इसकी औरही दशा हुई; अतिशय दुःखित हो सुधि बुधि खो, पछताने लगी कि "महाराज श्री सीताराम कृपासे ऐसे भावराशि भक्तराज थे, पर कैसे खेद की बात है कि यह मर्म मैं तनक नहीं विचारती जानतीथी!"

जैसे राजर्षि की मति गति रही, वैसीही श्री भगवत कृपासे रानी भी दिनरात ध्यान में रहने लगी, यहां तक कि प्रबल बिरह में प्राण छोड़ दिया।

भक्तिरसखान का स्वरूप, और मति, रति और गति को कौन बखान सकता है? श्रीभक्ति महारानी जी जिसपर कृपाकरती हैं सोई रसिकजन इसको कुछ कुछ समझ सकते हैं, और केवल बिद्याबुद्धिका यहां पता नहीं रहता।

इन बातों को इस दम्पति-कथा में प्रगट देख लीजिये।

---

(३१५) छप्पय। (८४२—३१५=५२७)

गुरु गदित बचन शिष सत्य अति, दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यो। अनुचर आज्ञा मांगि कह्यो "कारज कों जैहों"॥ आचारज "इक बात तोहि आये तैंकहिहों"। स्वामी रह्यो समाय दास दरसन कों आयो॥ गुरु की गिरा बिश्वास फेरि सब घर में ल्यायो।

शिषपन सांची करन कों, विभु सबै सुनत सोई कह्यो॥ गुरु गदित बचन शिष सत्य अति, दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यो। (५३) ॥५८॥ (२१३–५८ = १५५)

वार्त्तिक तिलक।

गुरु शिष्य।

एक शिष्य ने अपने गुरु भगवान के वचन को अति सत्य मान कर उसमें परमपूर्ण प्रतीति की। श्री गुरु जी की आज्ञा लेकर शिष्य जी एक काम को चले; इन के गुरु भगवान् ने आज्ञा की कि "अच्छा जाओ, जब तुम लौटकर आओगे तब तुमसे एक बात कहूंगा"।

जब उस कार्य्य से निवृत्त होकर लौटके शिष्य जी श्रीगुरु दर्शन को आए तो देखा कि आचार्य्य के मृतक शरीर को लोग लिये जाते हैं; तब शिष्यजी यह कहकर कि 'महाराज जी ने मुझे कुछ कहने की प्रतिज्ञा की है'; श्री वचन कदापि अन्यथा नहीं' शव के साथ सबको घर फेरही लाए।

प्रतीति सांची करने के लिये श्री सर्कार की कृपा से गुरु भगवान जी उठे और विश्वास-श्रद्धा-पूर्ण शिष्य से अपने संकल्पानुसार वचन कहेही॥ प्रतीति विश्वास इसको कहते हैं। इसी से श्री प्रियादास जी महाराज ने कहा है, कि ""प्रीति परतीत रीति' मेरी मति हरीहै"॥

(३१६) टीका । कवित्त । (८४१—३१६=५२६)

बड़ोगुरु निष्ठ कछु घटी साधु इष्ट जाने स्वामी संत पूज्य मांने कैसें समझाईयें। नित्यहि बिचारे पुनि टारे पै उचारे नाहि चल्यो जब रामतो कों कहो फिरी आईयें॥ सपथ दिवाई न जराइबे कों दियो तन, ल्यायो यों फिराई वहे बात जू जनाईयें॥ सांचो भाव जानि प्रान आये सों बखान कियो "करो भक्त सेवा" करी बर्ष लो दिखाईयें॥ २५८॥ (६२९—२५८=३७१)

वार्त्तिक तिलक

एक शिष्य बड़ेही गुरुनिष्ठ थे यहां तक कि श्रीगुरु भगवान् को सन्त और भगवन्त से भी बढ़के मानते जानते; पर श्री गुरु महराज साधुओं को पूज्य इष्ट समझते थे, अतः श्री गुरु जी के चित्त में यह चिन्ता रहती थी कि शिष्य को कैसे समझाऊं जिसमें "मोते अधिक सन्त कहँ जानै"। नित्यही श्रीगुरु जी इसी सोच विचार में रहा करते पर कुछ कहते न थे। एक दिन जब शिष्य जी रामत को जाने लगे तो श्रीगुरु ने आज्ञा की कि "लौट कर आओ तो कुछ कहूंगा"।

जब फिर आए तो देखा कि गुरु-मृत-शरीर को दग्ध करने को लोग ले जा रहेहैं; तब सब को सपथ देदिलाकर शव को फेर लाकर श्रीगुरु शरीर के आगे कर जोड़ कर खड़े हो बिनय किया कि "जो बात कहने की आज्ञा हुई थी सो कही जावै"।

सच्चा भाव जानकर श्री सर्कार ने इनको पुनर्जीवित कर दिया, आपने 'साधुसेवा' बताई, वरंच शिष्य की प्रार्थना से एक बर्ष पर्य्यन्त कर-दिखाई ॥

(३१७) छप्पय। (८४२—३१७=५२५)

संदेह ग्रंथि खंडन निपुन, बानि बिमल "रैदास" की॥ सदाचार श्रुति शास्त्र बचन अबिरुद्ध उचार्यो॥ नीर खीर बिबरन परम हंसनि उर धार्यो॥ भगवत कृपा प्रसाद परम गति इहि तन पाई॥ राज सिंहासन बैठि ज्ञाति परतीति दिखाई॥ बर्णाश्रम अभिमान तजि, पद रज बंदहि जासुकी॥ संदेह ग्रन्थ खंडन निपुन बानि विमल रैदास की॥(५४)॥५९॥२१३—५९=१५४॥

वार्त्तिक तिलक

श्री ६ रैदास जी महाराज।

स्वामी श्री १०८ रैदास जी की विमल वाणी, सन्देह की ग्रन्थियों (गिरहों) के खोलने में बड़ीही निपुण, तथा सदाचार वेद और शास्त्र के अविरुद्ध (अनुकूल) हैं। दूध और जल (सारासार) के विवेक में प्रवीण थे, तथा विवेकी हंसों (महानुभावों) ने अपने हृदय में आप के बचनों को धारण कियाहै। श्रीसीताराम

कृपा प्रसाद से इसी शरीर मेंही परम गति को पाया। राज सिंहासन पर बैठ कर ज्ञाति की प्रतीति दिखाई।

बड़े बड़े लोगों ने वर्णाश्रम का (ब्राह्मण जाति वा सन्यास आश्रम) का घमंड छोड़ छोड़ आपके चरण सरोज की धूरी अपने अपने सीस पर रक्खी है॥

(३१८)टीका कवित्त। (८४२—३१८=५२४)

रामानंदजूकौ शिष्य ब्रह्मचारी रहे एक गहेवृत्य चूटकी की कहे तासों बानियों। करो अंगोकार सीधो कहि दश बीस बार बरषे प्रबल धारतामे वापि आनियों॥ भोगकों लगावे प्रभु ध्यान नहि आवे अरे कैसें करि ल्यावे जाई पूछि नीच मानियों। दियो शाप भारी बात सुनि न हमारी घटि कुलमें उतारी देह सोई याकों जानियों॥ २५९॥ (६२९—२५९=३७०)

वार्त्तिक तिलक।

स्वामी अनन्त श्री रामानन्द जी का एक शिष्य ब्रह्मचारी था वह उसकी यह वृत्ति थी कि झोरी फेरकर चुटकी मांग लाया करता था उसी से स्वामी जी महाराज के यहां भगवन्त और सन्त की सेवा होती थी आपकी कुटी के समीप एक बनिया रहता था उसने आपसे अपनेहाँ की चुटकी (सीधा) अंगीकार करने के लिये दस बीस बेर प्रार्थना की थी परन्तु श्रीस्वामी जी के निषेध से कभी यह नहीं लेते थे"

(दो०) रामचन्द्र के भजन बिनु, 'बढ़ो' कहावै सोय।
जैसो दीपक 'बुझन' कहँ, बढ़ो कहैं सब कोय॥

एक दिन पानी बहुत बरसता था इसी से श्रीगुरु आज्ञा को चित्तपर न रखके आलस बश निकटस्थ उस बनिये का ही सीधा ले आए। जब थाल सर्कार के आगे अर्पण हुआ तो भोजन करते हुए भगवत को स्वामी जी महाराज ने ध्यान में नहीं देखा। अतः इस ब्रह्मचारी जी से पूछा कि चुटकी कहां कहां की लाया है?" इनने कहा कि "अमुक बनिया का सीधा लाया हूं।"

श्री महाराज जी ने पूछपाछ कर जाना कि वह बनिया चमार के साथ कारबार रखता है। आपने अपनी आज्ञा टालने और भगवत के भोग न स्वीकार करने से भारी शाप दिया कि "तूने मेरी बात नहीं सुनी इस लिये जा चमार केहां जन्म ले"

श्री रैदास जी के पूर्वजन्म की वार्त्ता ऐसी है। इसी से आप ने चाण्डाल के घर में जन्म लिया॥

श्रीकृपा से सिंहासन पर बिराजे और अपने ब्राह्मण होने की प्रतीति कराई अर्थात यज्ञोपवीत का चिन्ह शरीर में दिखाया॥

(३१९) टीका कवित्त। (८४२--३१९=५२३)

माता दूध प्यावै याकों छुयोऊ न भावै सुधि आवै सब पाछिली सुसेवा को प्रताप है। भई नभ बानी रामानंद मन जानी बड़ो दंड दियो मानी बेगि आये

चल्यो आपहैं॥ दुखी पितो माता देखि धाय लपटाय पाय कीजिये उपाय कियो शिष्य गयो पापहै। स्तन पान कियो जियो लियो उन्ह ईस जानि निपट अजानि फेरी भूले भयो ताप है॥२६०॥(६२१–२६०=३६१)

वार्त्तिक तिलक।

माता का दूध पीना क्या आप को तो स्पर्श भी नहीं अच्छा लगता था; क्योंकि श्रीगुरु सेवा के प्रताप से आपको पिछले जन्म की सारी वार्त्ता की सुधि बनी थी कि चाण्डल से व्यहार रखने वाले बनिये के सामग्री लाने से तो चमार के घर जन्म हुआ; और जो उसका दूध पिऊं तो न जानूं कि क्या गति हो।

स्वामी श्री रामानन्द जी महाराज को आकाशवाणी हुई कि "ब्रह्मचारी तुम्हारे घोर शाप से अमुक चाण्डाल के घर जन्मा है उस पर तुम को अब दया उचित है"। श्रीवचनामृत को सुनकर श्री १०८ रामानन्द स्वामी जी महाराज शीघ्रही उस चमार के घर जा, आपके पास पहुंचे। माता पिता जो दुखी हो रहेथे, श्री स्वामी जी को देखतेही दौड़कर पांव पड़ गिड़गिड़ाने लगे कि "महाराज! लड़का दूध नहीं पीता! आप कृपा कर कुछ उपाय कर दीजिये।" श्री जीने श्री कृपा से श्री राममन्त्रराज उपदेश किया; निष्पाप तथा सुखी हो आपने माता के स्तनसे दुग्ध पान करने

लगे; मानों पुनर्जीवित हुए; श्री स्वामी जी को ईश्वर से अधिक मानने जानने लगे॥

पूर्व जन्म का अपना चूक स्मरण कर अपने अज्ञान पर बड़ा पश्चात्ताप किया।

(३२०) टीका । कवित्त । (८३०—३२०=५२२)

बड़ेई रैदास हरिदासनि सों प्रीति करी पिता न सुहाई दई ठौर पिछवारही। हुतो धन मालक न दियो तून हाल लिया पति सुख जाल अहो किये जब न्यारही। गांटै पगदासि कहू बात न प्रकासि ल्यावे खाल करैं जूती साधु संतकों संभारही॥ डारी एक छानि कियो सेवाको सूरथान रहैं चौडे आप आनि घाँटि पावे यहि धारही॥ २६१॥ (६२९–२६१=३६८)

वार्त्तिक तिलक।

श्री रैदास जी बडे हरि भक्त हुए; और माता पिता आदि से आप को वैराग्य था, श्री हरि भक्तोंही से प्रीति रखते थे आप का यह आचरण माता पिता को तनक नहीं सुहाता था। मां बाप ने कह दिया "जा, घर के पिछवाड़े रह तब आपने एक छोटी सी कुटिया बनाली कि जिसमें श्रीठाकुरजी की सेवा करते थे।

मा बाप के पास बहुत अन्न धन था परन्तु उसमें से एक कनका एक कौड़ी भी उन लोगों ने आपको नहीं दी, आपकी नई धर्म्मपत्नी और आप विना छाया के ही, ठाकुर जी की झोपड़ी के पास बड़े ही आनन्द

से रहा करते। हत्या नहीं करके मोल चमड़ा ला के उसकी पनही बना बना के सन्तों के चरणोंमें देते थे और अपना भजन सेवा गुप्त रखते थे सरकारी कृपा से जो अन्न मिल जाता था वह अतिथि और भूखों को देकर भोग लगाते थे।

(३२१) टीका कवित्त। (८४२—३२१=५२१)

सहे अति कष्ट अंगहिये सुख सील रंग आए हरि प्यारे लियो भक्त भेष धारिके। कीयो बहु मान खान पान सो प्रसन्न ह्वैके दीनो कह्यो पारसहै राखियो संभारिके॥ "मेरे धन राम, कछु पाथर न सरे काम, दाम मैं न चाहों, चाहों डारों तन वारिकै। राँपी एक सोनों कियो दियो करि कृपा राखो राखो यहु छांनि मांझ लै हो जु निकारिके॥२६२॥(६२९-२६२=३६७)

वार्त्तिक तिलक।

दम्पति शीत इत्यादि से शारीरिक दुःख तो अवश्य सहा करते थे परन्तु उनके साधु शील अन्तःकरण प्रेम रंग से अत्यन्त सुख मग्न रहते थे।

एक दिन एक साधु का वेष बनाय कृपा कर के स्वयं श्री जानकीनाथ आप के पास आये। आपने यथाशक्ति बहुत आदर सत्कार किया सेवा पूजा की श्री साधु जी ने अति प्रसन्न हो कर पारस का एक टुकड़ा दिया और कहा कि इस को सम्भाल कर रखिये यह पारस है इस के स्पर्श से लोहा सोना बन

जाता है बरंच आप की एक रांपी में वह पारस छुला कर उस के लोहे को सोना बना के प्रत्यक्ष देखा भी दिया। परन्तु आप बोले मेरा एक धन केवल श्री रामजी मात्रही हैं' पत्थर को मैं किसी काम का नहीं समझता। हम दोनों व्यक्ति अपने शरीर और इस पत्थर को भगवत पर न्योछावर करते हैं यदि आपको यह पत्थर छोड़ही जाना है तो ठाकुर जी के छप्पर में कहीं खोंस जाइये जब आइयेगा पहिचान के लेलीजियेगा॥

(३२२) टीका कवित। (८४२—३२२=५२०)

आये फिरि श्याम, मास तेरह वितीत भये, प्रीति करि बोले "कहो पारसकी रीतिको"। "वाहि ठौर लीजे मेरो मन न पतीजे अब चाहो सोई कीजे मैं तो पावतहों भीतिको" ॥ लेके उठि गये; नये कौतुक सो सुनो, पावैं सेवत मुहर पांच नितही प्रतीति को। सेवहु करत डर लाग्यो; निसि कह्यो हरि "छोड़ो डर आपनी, औ राखो मेरी जीतिको" ॥२६३॥(६२९—२६३=३६६)

वार्तिक तिलक।

भगवत पारस को सामने छप्पर में खोंस के चले गये, और तेरह महीने व्यतीत होने पर फिर उसी भागवत वेष में आकर दरशन दे पूछा कि "पारस के व्यवहार का समाचार बताइये," आप दण्डवत सत-कार करके बोले कि "वह उसी ठेकाने होगा जहाँ

आपने रखा था, देख भाल के अपना ले लीजिये; मेरी परीक्षा न कीजिये; मेरे मन को तो उससे प्रतीति नहीं होती है, मैं उससे डरता हूं; आप उसको जो चाहिये सो कीजिये"।

साधु देवता उस पत्थर को लेकर चले गये।

अब नया कौतुक सुनिये कि ठाकुर जी का आसन झारने के समय आप नित्य पांच स्वर्ण-मुद्रा पाने लगे; तब सेवा पूजा से भी डरे; तब रात को श्री सरकार ने स्वप्न में आज्ञा की कि "अपना हठ (अर) छोड़ो और मेरी बात रक्खो"॥

(३२३) टीका। कवित्त। (८४२—३२३=५१९)

मानि लई बात, नई ठौर ले बनाय चाय संतनि बसाय; हरि मंदिर चिनायो है। बिबिधि बितान तान, गनो जो प्रमान होई, भोई गई, भक्ति पुरी जग जस गायोहै॥ दरसन आवैं लोग, नाना बिधि राग भोग; रोग भयो बिप्रनि कीं तन सब छायो है। बड़ेई खिलारी वे, रहे हैं छान-डारि करी, घरपै अँटारी; फेरि द्विजन सिखायो है॥ २६४॥ (६२९-२६४-३६५)

(चौ०) "कै माया, कै हरिगुण गाई। दोनों से तो दोनों जाई॥"

(दो०) "व्यास बड़ाई जगत की कूकुर की पहिचान।
प्रीति किये मुख चाटि है वैर किये तनुहान॥"

वार्त्तिक तिलक।

अब श्रीसर्कार की बात श्री १०८ रैदास जी ने मान ली। एक नए ठांवं में कोठा अटारी हरि मन्दिर तथा सन्तनिवास स्थान बनाये; बिबिध बितान चँदवा ध्वजा पताका बन्दनवार इत्यादि से साज सजाया; कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता, वह श्रीभक्तिमहारानी की पुरी जान पड़तीथी; संसार में श्री १०८ रैदास जी का यश पूरे रूप से फैलगया। श्रीकृपासे नाना प्रकार के भोग राग संगीत होते, और बहुत लोग दरशन को आया करते थे; बड़ी भीड़ लगी रहती थी। ("पूजहिँ तुमहिँ सहित परिवारा") ॥

ब्राह्मणों को मत्सर रोग हुआ, वे यह सब देख देख डाह से जलने लगे। राम जी तो बड़े खिलाड़ी हैं ही। कहां तो परम अकिञ्चन श्रीरैदास जी एक झोंपड़ी में गुप्त भजन में दिन बितारहे थे, कहां स्वयं प्रभु ने धन माया कोठा अटारी दे श्रीहरि महोत्सवादि ठाट और सन्तसेवा की धूमधाम बढ़ा दी। और फिर अति अधिक बढ़ते समझ भक्तहित विचार, आपही सर्कार विप्रों के हृदय में वैसे प्रेरक हुए ॥

(३२४) टीका। कवित्त। (८४२—३२४=५१८)

प्रीति रसरास सों रैदास हरि सेवतहे, घरमें दुराय लोक रंजनादि टारीहै। प्रेरि दिये हृदे जाय द्विजनि पुकारि करी भरी सभा, नृप आगे कह्यो मुखगारी है॥

उनकों बुलाय समझाय न्याय प्रभु सौंपि कीनो जग जस साधु लीला मनु हारीहै ॥ जितेप्रतिकूल में तो माने अनुकूल, 'यातें संतनि प्रभाव मनि कोठरी की तारीहै' ॥ ॥ २६५ ॥ (६२९—२६५=३६४)

वार्तिक तिलक।

श्री १०८ रैदास जी रसराशि प्रेम अनुराग से श्रीयुगल सर्कार (प्रिया प्रियतम) की सेवा में छके गुप चुप घरमें रहते थे लोक को रिझाने से कुछ प्रयोजन नहीं रखते थे; "लोक मान्यता अनल सम कर तप-कानन दाह"। भक्त हितकारी कौतुकी खिलारी प्रभु ने ब्राह्मणों के हिय में प्रेरणाकी, ब्राह्मण लोगोंने राजा की सभा में जाके पुकारा, श्रीरैदास जी को गालियां देदे कर यों कहने लगे कि "वह चर्मकार भगवत की प्रतिमा तथा सालग्राम जी की पूजा सेवा करता है लोग उसका आदर करते हैं, इस सबका नीच को अधिकार नहीं; वरंच (श्लोक) अपूज्याः यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजाव्यतिक्रमात्। त्रयस्तत्र प्रवर्त्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्।"

राजा ने श्रीरैदास जी को बुलाके समझाया, न्याय किया (जैसा आगे वर्णन होता है); इनका प्रताप प्रत्यक्ष देख कर इनको ठाकुर की सेवापूजा सौंपदी; विप्र लोग लज्जित हुए; श्रीरैदास जी का यश संसार में छागया। साधुकी लीला प्रभु-का-मन-हरने-वाली

है। श्रीहरि का वचनामृत है कि "जो लोग मेरे भक्तों के प्रतिकूल होते हैं मैं उनको अनुकूल मानता हूं, क्योंकि उनकी प्रतिकूलता साधु-महिमा-मणि वाली कोठरी की ताली होती है। (जैसे हिरण्यकशिपु ने जब श्रीप्रह्लाद जी को कष्ट दिये तो आपके प्रभाव प्रसिद्ध हुए); अर्थात् दुष्टों के द्वारा सन्तों के माहात्म्य मैं प्रकाश करता हूं"॥ "जात पांत पूछै नहिँ कोइ। हरि को भजै सो हरि को होइ॥"

(१२५) टीका। कवित्त। (८४२—३२५=५१७)

बसत चितौर मांझ रानी एक झाली नाम; नाम बिन कान खाली; आनि शिष्य भईहै। संगहुतें बिप्रसुनि छिप्र तन आगि लागी; भागी मति नृप आगे भीर सब गईहै॥ वैसेहि सिंहासनपै आयके बिराजे प्रभु; पढ़े बेद बानी, ये न आये, यह नईहै। "पतित पावन नाम कीजिये प्रगट आजु" गायो पद गोद आई बैठे भक्ति लईहै॥ ॥२६६॥ (६२९—२६६=३६३)

"खाली" خالی =शून्य।

वार्त्तिक तिलक।

चित्तौरगढ़ में "झाली" नाम की एक रानी रहती थी। श्रीहरिनामोपदेश से इसका कान पवित्र नहीं हुआ था (मन्त्र नहीं पाया था)। वह श्रीकाशी जी आके श्रीरैदास जी महाराज से शिष्य हुई। जो ब्राह्मण लोग रानी के साथ थे, यह सुनके उनके तन में आगसी लग गई; बिचार उनके कुछ नहीं रहा राजा

के आगे ब्राह्मणों की भीड़ पहुँची । राजा ने श्रीरैदास जी को आदर से बुलाया । सभा हुई यद्यपि विवाद में ब्राह्मण नहीं जीते पर ब्राह्मणों ने माना नहीं तब यह ठहरी की ऊंचे सिंहासन पर श्री भगवत की मूर्त्ति (जिनकी ब्राह्मण लोग पूजा किया करते थे) विराजमान कराई गई और यह बात ठहरी कि जिनके बुलाने से श्रीठाकुर जी पासचले आवैं उन्हीं को पूजा सेवा इत्यादि सब कुछ का अधिकार जाना चाहिये ।

ब्राह्मण लोग एक एक करके तथा वृन्द के वृन्द मिलकर पहरों वेद ऋचाओं से स्तुति करते मन्त्र जपते रहे, परन्तु मूर्त्ति मूर्त्ति ही बनी रही; और, जब श्रीरैदास जी ने कहा कि "बिलम्ब छाड़ि आइये, कि तो बुलाइ लीजिये । पतीत पावन नाम आपनो शीघ्र सांच कीजिये ॥" तो सभा के सामने सबके देखते श्रीभक्तवत्सल ठाकुर जी श्रीरैदास जी की छाती में आलगे; जय ! जय !! शब्द की ध्वनि हो उठी ॥ श्रीभक्ति महारानी जी की जय ॥

(३२६) टीका । कवित्त । (८४२—३२६=५१६)

गई घर झाली पुनि बोलि के पठाये, "अहो जैसे प्रतिपाली अब तैसें प्रतिपारिये" । आपुहू पधारे; उन बहु धन पट वारे; विप्र सुनि पाव धारे; सीधौदै निवारिये ॥ करिकै रसोई द्विज भोजन करन बैठे द्वै द्वै मधि

एक यों रैदासकों निहारियै। देखि भई आंखैं; दीन भाषैं सिखलाखैं भये स्वर्ण को जनेऊ काढ़यो त्वचा कीनी न्यारियै ॥ २६७ ॥ (६२९-२६७=३६२)

वार्त्तिक तिलक।

झाली रानी ने, अपनी राजधानी चित्तौर जाके वहां से श्रीरैदास जी को विनय कर, सादर बुलाभेजा कि "जैसे आप ने मेरा प्रतिपाल किया है वैसे ही तनक यहां आके भी प्रतिपाल कीजिये"। श्रीरैदास जी कृपा करके वहां पधारे; आनन्द से रानी ने बहुत धन वस्त्र श्रीगुरु भगवान पर न्योछावर किये।

ब्राह्मण लोग भी जो गए उनको सीधा दे कर निबटाया क्योंकि उनने श्रीरैदास जी के भंडारे में पूड़ी मिठाई भी नहीं खाना चाहा। जब ब्राह्मण रसोई भोजन करने लगे, तो अपने प्रति दो दो विप्र के बीच, श्रीरैदास जी को बैठे पाया। यह प्रभाव देख उनकी आंखें खुलीं, दीन हो गिड़गिड़ाने लगे उन में से बहुत विप्र आपके शिष्य भी हुए। सब की प्रतीति दृढ़ाने के निमित्त श्रीरैदास जी ने अपने पूर्वजन्म की कथा कही, तथा शरीर की त्वचा न्यारी कर स्वर्ण यज्ञोपवीत सबों को दिखाया।

कठौते में श्री गंगा जी आपके घर आईं और उसी में से जड़ाऊ के कङ्कण आपने दिये ॥

लाखों को भगवत सन्मुख करके आप परमधाम

को गए। स्वामी अनन्तश्री रामानन्द जी की कृपा की और श्रीरैदास जी की जय ॥

श्री ६ कबीर जी

कलि	विक्रमी	ईसवी	शक
४५४८	१५०४	१४४७	१३६९
४६१८	१५७४	१५१७	१४३९

(३२७) छप्पय । (८४२—३२७=५१५)

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी ॥ भक्ति बिमुख जो धर्म सो अधरम करि गायो । जोग जग्य ब्रत दान, भजन-बिनु तुच्छ दिखायो ॥ हिन्दू तुरक*प्रमान "रमैंनी, सबदी, साखी" । पक्षपात नहिं बचन, सबहीके हितकी भाखी॥आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर,मुख देखी नाहिन भनी। कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी ॥(५५)॥ ६० ॥ (२१३-६० = १५३)

वार्तिक तिलक ।

जगत विख्यात श्री १०८ कबीर जी ने चार वर्ण, चार आश्रम, छः दर्शन, किसी की आनि-कानि नहीं

रक्खी। केवल श्रीभक्ति (भागवत धर्म) को ही दृढ़ किया। 'भक्ति-के-विमुख' जितने धर्म, उन सब को "अधर्म" ही कहा है। सच्चे जी से भजन (भक्ति, भाव, बन्दगी) के बिना तप योग, यज्ञ, दान, व्रत, सब को तुच्छ बताया है। आर्य्य अनार्य्यादि हिन्दू, मुसल्मान दोनों को प्रमाण सिद्धान्त बातें सुनाई हैं। "धर्म एक एकहि व्रत नेमा। काय वचन मन प्रभु पद प्रेमा॥"

अपनी बीजक अर्थात् "रमैनी, शब्दी, साखी" में किसी मत की सुहाती (खुशामद) और मुँहदेखी नहीं कही है किसी का पक्षपात आपके वचनों में नहीं है; 'अन्तः करण में कुछ और, और बघारना मुँह से कुछ और,' इसको बहुत ही बुरा बताया है। हिन्दू, मुसलमान सबके हित की ही बात बखानी है। आप प्रेमा दशा में आरूढ़ थे।

☞ "वर्णाश्रम षट दर्शनी"। पृष्ठ ६७८ देखिये

* Turkey टर्की (ملک روم) रूम के रहने वालों को "तुर्क ترک" कहते हैं; तुर्क प्रायः मुसलमान होते ही हैं, अतः "तुर्क" मुसलमानों को कहते हैं। श्रीकबीर जी महाराज ने हिन्दुओं के लिये "राम" तथा मुसलमानों के लिये "رحیم, रहीम्" (दयालु) नाम को, सच्चे दिल तथा निष्कपट प्रेम भक्ति से कहने का उत्साह बढ़ाया है प्रेम भक्ति रहित, मिथ्या, और केवल दिखाऊ आडम्बरों पर "मुल्ला" तथा "पाँड़े" अर्थात् मौलाना और पण्डितों को बहुत धिक्कारा है।

रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह जी की टीका "रमैनी" पर है सो देखने योग्य है ॥

(३२८) टीका कवित्त। (८४२—३२८=५१४)

अतिही गंभीर मति सरस कबीर हियो लियो भक्ति भाव, जाति पांति सब टारियै। भई नभ बानी "देह तिलक रमानी करौ, करौ गुरु रामानन्द गरें माल धारियै"॥ देखैं नहिं मुख मेरो मानिकैं मलेछ मोंको, "जात न्हान गंगा कही मग तन डारियै"। रजनी के शेष में आवेस सों चलत आप, परै पग रामकहै मंत्रसों बिचारियै। ॥२६८॥ (६२९—२६८=३६१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकबीर जी की मति अति गंभीर तथा अन्तःकरण श्रीभक्ति रस से सरस था, भाव भजन में पूरे, जाति पांति वर्णाश्रम इत्यादि साधारण धर्मों का आदर नहीं करते थे।

लड़कपन ही में आकाशवाणी हुई कि "कबीर! अपने शरीर में (रमानी वा रामावत अर्थात् रामानन्दी) तिलक रमाके; गलेमें तुलसी जी की माला धारण करके, रामानन्द जी का शिष्य हो"। आपने प्रार्थना की कि "प्रभो! स्वामी श्रीरामानन्द जी यदि मुझको तुर्क (मुसलमान्) मानकर मेरा मुँह भी नहीं देखैं तौ?" तो आज्ञा हुई कि "रामानन्द जी गंगा स्नान को जाया करते हैं, तुम मार्ग में जा पड़ो"।

रात्रि के पिछले पहर में स्वामी श्रीरामानन्द जी

के मार्ग में जा, देख भालके, ये पड़ रहे। श्री सीताराम नाम स्मरणावेश में श्रीस्वामी महाराज श्री गंगा तट पर चले जा रहेथे, अचानक प्रभु का दक्षिण चरण कमल इनकी छाती पर जोंही पड़ा त्योंही इधर श्रीस्वामी जी ने राम! राम!! कहते हुए पांव सँभाल लिया, और उधर अति आनन्द में भरे श्रीकबीर जी ने श्री गुरु मुख से महामन्त्र ("राम, राम") पा उसी को उपदेश मान सुख में मग्न राम राम रटते जपते, अपने घर पहुंचे। आकाश बाणी द्वारा आज्ञा के लिये श्रीयुगल सर्कार का अनेक धन्यवाद कर उस रंग में रँग गए॥

सीतापति के भजन बिन, राजा परजा सब अफल।
तत्त्ववेत्ता तिहुंलोक में, राम रटैं ते नर सुफल"॥

(३२९) टीका। कवित्त। (७४२—३२९=४१३)

कीनीवही बात माला तिलक बनाय गात मानि उतपात मात सोर कीयो भारियै। पहुँची पुकार रामानन्द जू के पास आनि कही कोऊ पूछे तुम नाम ले उचारियै॥ "ल्यावो जू पकरि वाको कबहम शिष्य कियो"? ल्याये करि परदा में पूछी; कहि डारियै। राम नाम मंत्र यही लिख्यो सब तंत्रनि में खोलि पट मिले सांचो मत उर धारियै॥ २६९॥ (६२९—२६९=३६०)

"परदा"=پرده पट, व्यवधान, व्यवहित, आड़, ओट।

वार्तिक तिलक।

श्रीकबीर जी ने वही बात की; अर्थात् अपने शरीर

में भागवत संस्कार नाम ऊर्ध्व, पुण्ड्र तुलसीकी कंठी-माला, इत्यादि धारण किये उसी महामन्त्र का जाप करने लगे यह सब देख, बड़ा उत्पात मान आप की माता बहुत चिल्लाने लगी; श्री स्वामीजी के पास भी वह चिल्लाहट पहुँची; किसी समीपी ने कहा कि वह कहती है कि "कबिरा से जो पूछती हूँ कि तूने यह सब कहां पाया, तुझे किसने बताया ? तो वह श्री स्वामी जी ही को अपना गुरु बताता है' यह सुन श्री स्वामी जी ने आज्ञा की कि "कबीर को पकड़लावो, पूंछा जाय कि "मैंने उसको कब शिष्य किया है ?" लोग कबीर जी को लेआये। कपड़े का ओट करके श्री स्वामी जी ने पूँछा, कबीर जी ने उत्तर में सारा प्रसंग कहडाला और बिनय किया कि "सब तंत्रों और ग्रंथों में रामहीनाम को महामंत्र परम जाप्य लिखा है" ॥ (अनेक प्रमाण)

"उस ब्रह्ममुहूर्त्त में इस काशी धाम में श्री गंगा जीकी सीढ़ी पर आपने अपने चरण स्पर्श पूर्वक श्री राम नाम कहा उस समय वहां कोई और नहीं था, केवल मैंनें हीं सुना;और फिर इस महामंत्रसे परे उपदेश करने को और रहहीं गया क्या ? इतनी बात सुन, अति प्रसन्न हो, श्री स्वामी जी ने ओट हटाकर प्रत्यक्ष हो, कबीर जी को छाती से लगा लिया, यह कहते हुए कि "वत्स ! तेरा मत सच्चा पक्का है, यही नाम अपने उर में धरो॥ भगवत स्मरण और भागवत सेवा करो"॥

[११०] टीका। कवित्त। [८४२—३३०=५१२]

त्रिनै*तानो बानो; हिये राममड़रानो; कहि कैसें कै बखानौं वह रीति कछु न्यारीयैं। उतनोई करैं जामें तन निरबाह होय, भोय गई औरै बात भक्ति लागी प्यारीयैं॥ ठाडें मंडी मांझ पट बेचन लै, जन कोऊ आयो मोकों देहु देह मेरीहै उघारियै। लग्यो देन आधो फारि आधेसों न काम होत, दियौ सब्र लियो जौपैं यहै उर धारियैं॥२७७॥ (६२९—२०७ = ३५९) * बुनै

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकबीर जी कपड़ा बुनने का उद्यम करते थे, यद्यपि बाह्य में ताना बाना करते तथापि अन्तःकरण में निरन्तर श्रीसीताराम रूप तथा श्रीसीताराम नाम मंत्र जपा करतेथे जैसे आकाश में पक्षी मँड़राते हैं। प्रेमाभक्ति भाव, प्रीति प्रतीति रीति, न्याराही वस्तु है वह वर्णन क्योंकर किया जावे। श्री श्री भक्ति महारानी की कृपा व्याप गई, वही प्यारी लगतीथी, उद्यम तो केवल उतनाही करतेथे कि जितने में शरीर तथा माता आदि का निर्वाह हो।

एक दिन हाट में कपड़ा बेचने को खड़े थे एक साधु ने मांगा कि "मैं वस्त्र रहित हूं, मुझे दो"। आप थान में से आधा फाड़ने लगे, उसने कहा कि "आधे से पूरा नहीं पड़ने का"। आप बोले कि अच्छा सब लो।

(३३१) टीका कवित । (८४२-३३१=५११)

तिया सुत मात मग देखै भूखे; आवै कब ? दबि रहे हाटनि मैं ल्यावैं कहा धामकों। सांचो भक्ति भाव जानि, निपट सुजान वे तौ कृपाके निधान, गृह शोच पर्यो श्यामकों॥ बालद लै धाये दिन तीनि यों बिताये जब आये घर डारी दई, दई हौ अरामकों। माताकरै सोर कोऊ हाकिम मरोरि बांधै डारो विन जानै सुत लेत नही दामकों॥ २७१(६२९-२७१=३५८)

"हाकिम्"=حاکم आज्ञादेनेवाला, राजकर्मचारी, राजकार्य्य निर्वाहक, शासनकर्त्ता, न्यायकर्ता ।

वार्तिक तिलक ।

श्री कबीर जी की माता और स्त्री पुत्र आप की बाट जोह रहे थे कि कपड़ा बेचकर हाट से कुछ लावैं तो भोजन होय। परिवार उधर इस प्रतीक्षा में थे और इधर आप यह सोचकर कि "छूंछा हाथ घर क्या जाऊं" पैठ सेही बन को जाछिपे॥ श्री सुजान शिरोमणि भक्त वत्सल महाराज कृपानिधान श्री राम जी को इन के घर के लोगों का सोचपड़ा; जब तीन दिन बीत गये तो सर्कार ब्योपारी के भेष में बैलों पर आटा घी चिनी इत्यादि लदवाये हुये लाकर श्री कबीर जी के घर दे गये माता चिल्लाने लगी की यह सब सामग्री मुझ दरिद्र के घर न पटको कोई राज्याधिकारी वा कोतवाल पकड़े बांधैगा दंड करेगा। मेरा लड़का कबीर किसी अनजाने की एक कौड़ी नहीं छूता है पर ब्योपारी ने कहा कि

कुछ भय नहीं।

(३३२) टीका कवित (८४२-३३२=५१०)

गये जन दोय चार, ढूंढिकै लिवाय ल्याये, आये घर सुनी बात, जानी प्रभु पीरकों। रहै सुखपाय कृपाकरी रघुराय; दई छिनमैं लुटाय सब, बोलि भक्ति भीरकों॥ दीयौ छोडि तानौ बानौ; सुख सरसानौ हिये; किये रोस धाये सुनि विप्र तजि धीरकों। क्योंरे तूं जुलाहे! धन पाये, न बुलाये हमै? शूद्रनि कों दियो जावौं कहैं यों कबीरकौं॥ २७२॥ (६२९-२७२=३५७)

वार्त्तिक तिलक।

दो चार जन जाकर श्री कबीर जी को ढूंढ़ लाये; घर पहुंच आपने सब बार्ता सुनी और समझा कि श्री सर्कार ने मेरे लिये यह कष्ट उठाया है। श्रीरघुनाथ जी की कृपा को धन्यबाद कर श्री सीताराम जी को भोग लगाकर संतों भक्तों को क्षणमात्र में सब का सब पवाय दिया; ताना बाना कपड़ा बिनना छोड़कर श्री सर्कार के भजन में लगे॥ यह नित्यका उत्सव देखि ब्राह्मणों को धैर्य न रहा, क्रोध कर आये और बकने लगे- "रे जोलहा! तूने धन पाया, वैरागियों को जो शूद्र हैं बोला बोला के खिलाया, और हम ब्राह्मणों को पूछा भी नहीं॥

(३३३) टीका। कवित्त (८४२—३३३=५०९)

क्यौंजू, उठि जाऊं? कछु चोरी धन ल्याऊं, नित हरि गुन गाऊं, कोऊ राहमैं न मारीहै।"उनिकों लै मान कियो

याहिमैं अपमान भयो, दयो जौपै जाय हमैं तौही तौ जियारीहै" ॥ "घरमैं तौ नाहि मंडी जांहि तुमरही बैठे"; नीठिकैं छुटायो पैंडो; छिपे ब्याधि टारीहै। आये प्रभु आप द्रव्य ल्याये समाधान कियो; लियो सुख, होय भक्त कीरति उजारीहै ॥ २७३ ॥ (६२९–२७३=३५६)

वार्त्तिक तिलक ।

श्री कबीर जी ने कहा कि "मैं कहीं डांका नहीं देता हूं, धन चोराके नहीं लाता हूं, घर बैठे श्रीराम गुन गाता हूं; क्या यहां से उठकर चला जाऊँ ? आपको देने को धन अब कहां से लाऊँ ?" ब्राह्मणों ने कहा कि "तूने बैरागियों शूद्रों का मान किया इससे प्रत्यक्ष हम सब ब्राह्मणों का अनादर और अपमान है; जो तुझ से दिया जाय तो हमको दे, तबही हमारा जीवन ठीक है"। श्री कबीरजी ने यह कहके उनसे बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाए और उस व्याधि को टाला कि" आप सब यहीं ठहरिये मैं जाता हूं पैंठ (हाट) से कुछ लाता हूं, क्योंकि घर मे तो कुछ है नहीं" और हाट की ओर चलके बाट में कहीं आप छिप रहे।

प्रभु ने आपके रूप में स्वयं आके द्रव्य अन्न दे दे के ब्राह्मणों का सन्मान किया, सर्कार ने इसमें सुख माना कि मेरे भक्त (कबीर जी) की कीर्त्ति उज्वल रहे। काशीजी भर में श्री कबीर जी का सुयश छा गया॥

(३३४) टीका। कवित्त (८४२—३३४=५०८)

ब्राह्मन को रूपधरि आये छिपि बैठे जहां, "काहेकौं मरत भौन* जावौ जू कबीरके। कोऊ जाय द्वार ताहि देतहै अढ़ाई सेर, बेर जिन लावौ, चले जावौ यों बहीरके॥" आये घर मांझ देखि निपट मगन भये; नये नये कौतुक ये कैसें रहै धीरके। वारमुखी लई संग मानौ वाही रंग रंगे, जानौ यह बात करी डर अति भीरके॥ २७४॥ (६२९—२७४=३५५)

* पाठान्तर "भूख"।

वार्त्तिक तिलक।

उधर तो आपने श्रीकबीरजी हो प्रति व्यक्ति को ढाई ढाई सेर देने का प्रबन्ध किया, और इधर एक ब्राह्मण के रूप से वहाँ पहुँचे जहाँ कबीर जी छुपे और श्रीयुगलसर्कार के नाम स्मरण तथा रूप के ध्यान में संसार से अचेत बैठे थे; कहा कि "अरे तू कौन है? यहां भूखों क्यों मरता है? कबीर जी के घर जा; जो जाता है कबीर जी उसको ढाई सेर देते हैं। यह देख! मैं भी लाया हूं; सीधा वहीं चलाजा, विलम्ब मत कर"॥ आप घर आए सर्कार की कृपा देख प्रेमानन्द में अति मग्न हुए॥

जब आपके हां बड़ी भीड़ होने लगी, मान बड़ाई बहुत बढ़ी, तो इसको विष सम जान, आप नए नए कौतुक करने लगे। एक वेश्या को साथ लेकर बाहर निकले।

लोगों ने समझा कि अब यही रंग बदला लोक में सुयश घटा। भला सामान्य लोगों में इतना धैर्य्य कहां? जो श्रद्धा घट न जाय। आप ने तो केवल लोक रंजन के भय से ऐसा किया॥

(३३५) टीका कवित्त (८४२-३३५=५०७)

सन्त देखि डरे, सुख भयौ ई असन्तनि के, तब तौ बिचार मन मांझ और आयो है॥ बैठी नृप सभा जहां गये पै न मान कियौ; कियौ एक चोज उठि जल ढरकायो है। राजा जिय शोच पर्यो, कर्यौ कहा? कह्यो तब "जगन्नाथ पण्डा पांव जरत बचायो है"॥ सुनि अचरज भरे नृप ने पठाये नर, ल्याये सुधि, कही "अजू सांचही सुनायो है"॥ २७५ ॥ (६२९—२७५=३५४)

वार्त्तिक तिलक।

यह देख सन्त लोग तो हरिमाया से डरे, और अभागे निन्दक खलगण सुखी हुए।

तब श्री कबीर जी महाराज मन में कुछ और बिचार ठान राजा की सभा में गए। राजा ने आप का कुछ भी आदर सम्मान नहीं किया। आप कहीं बैठ गए; थोड़ेही काल के अनन्तर उठके उस पात्र में से (जिसको लोग मदिरा से भरा अनुमान करते थे) सभाही में जल ढाल दिया। राजा ने पूछा कि "यह क्या किया?" आपने उत्तर दिया कि "श्री जगन्नाथ जी में एक पंडे का पांव जला चाहता था, इसलिये

आग बुझादी है" । यह आश्चर्य्यजनक बचन सुन के राजा ने सांढ़नी-चढ़े को पुरुषोत्तम-पुरी भेजा लौट आकर उसने कहा कि "सब वार्त्ता सत्य है"।

(३३६) टीका कवित्त (८४२ - ३३६=५०६)

कही राजा रानी सो "जु बात वह सांची भई, आंच लागी हिये अब कहो कहा कीजिये?"। "चलेही बनत" चले, शीस तृण बोझ भारी, गरे सो कुल्हारी बांधि, तिया संग भीजियै ॥ निकसे बजार ह्वै के, डारिदई लोक लाज, 'कियो मैं अकाज छिन छिन तन छीजियै"। दूरते कबीर देखि, ह्वै गये अधीर महा, आये उठि आगे कह्यौ, डारि मति रीझियै ॥ २७६ ॥ (६२९-२७६=३५३)

वार्तिक तिलक।

राजा ने रानी से कहा कि श्री कबीर जी की वह बात (पंडे के पांव जलने से बचाने की) तो ठीक ही निकली; बताओ अब क्या करना चाहिये। मैंने महाराज का बड़ा अपमान किया है, इस भय आंच से मेरा जी तप्त है; और, मैं ने नहीं करना सो किया इस से क्षण क्षण शरीर तेज बल हीन हो रहा है।"

रानी ने कहा कि "चलेही बनत"। रीति अनुसार, लाज तज, गले में कुल्हारी बांध, मांथे पर तृणभार रख, रानी को साथ ले, नंगे पाँव, नगर के मध्य हो, आप के पास चला। श्री कबीर जी की दृष्टि ज्यों ही दम्पति पर पड़ी, आप महा अधीर हो, उठकर, आगे

आ, कुल्हारी बोझा फिंकवा, रानी राजा का आदर सत्कार कर अमृत बचनों से दम्पति को अपनी प्रसन्नता जनाई और सुखी किया ॥

(३३१) टीका। कवित्त (८४२–३३१=५०५)

देखि के प्रभाव, फेरि उपज्यौ अभाव द्विज आयौ पादसाह सो "सिकंदर" सुनांव है। विमुख समूह संग, माता हूं मिलाय लई, जाय के पुकारे "जू दुखायौ सब गांव है"॥ "ल्यावौ रे! पकर, वाके देखौं यै मकर कैसो, अकर मिटाऊं, गाढ़े जकर तनाव है। आनि,ठाढ़े किये, "क़ाज़ी" कहत "सलाम करौ;" "जानैं न सलाम, जानैं राम," गाढ़े पांव है ॥ २७७ ॥ (६२९—२७७=३५२)

वार्त्तिक तिलक।

यह प्रभाव देख करके ब्राह्मणों के हृदय में पुनः मत्सर उत्पन्न हुआ; वे सब काशीराज को भी श्री कबीर जी के बस में जानकर, 'बादशाह सिकंदर-लोदी' पास,जो आगरे से काशी जी आया था, पहुंचे। श्री कबीर जी की मा को भी मिलाके साथ में ले के मुसलमानों सहित बादशाह की कचहरी में जाकर उन सब ने पुकारा कि "कबीर नगर भर में उपद्रव मचारहा है"। बादशाह ने आज्ञा दी कि उस को पकड़ लावो मैं उसका मकर देखूं, गाढ़े सिकडी में डाल के उस का अकड़ मिटाऊं। आप बादशाह के पास लाये गए; "क़ाज़ी" ने कहा कि "सलाम करो"। आपने उत्तर दिया कि

मैं श्री राम जी को छोड़ और दूसरे किसी को सीस नवाना नहीं जानता हूं ॥

(क०) बिमुखन मुख निंदा सुनि के सिकंदर ने पकरि मगाये आप आये ताहि ठाम है ॥ कही काजी पाजी सुनो ये महा मिजाजी करी सिर को झुकाय बादशाह को सलाम है ॥ बोले श्री कबीर रस राम मणि धीर उर ध्याय रघुबीर जन पीर हारी नाम है। जानौं न सलाम कहौं सांची मैं कलाम बात दूसरी हराम अग जानौं एक राम है ॥

(३३८) टीका। कवित्त (८४२ —३३८=५०४)

बांधि के जंजीर गंगा नीर माझ बोरि दिये, जिये तीर ठाढ़े; कहै "जंत्र मंत्र आवही"। लकरीन मांझ डारि अगिनि प्रजारि दई, नई मानो भई देह, कंचन लजावही ॥ बिफल उपाय भये, तऊ नहीं आय नये, तब मत वारो हाथी आनि कै झुकावही ॥ आवत न ढिग, औ चिघारि हारि भाजि जाय; आप आगे सिंह रूप बैठे सो भगावही ॥ २७८ ॥ (६२९—२७८=३५१)

वार्त्तिक तिलक।

बादशाह ने आप को लोहे की सिक्कर में बाँधकर श्री गंगा जी में छोड़वा दिया, पर श्री कृपा से सीक्कर टूट गई और आप तीर पर*खड़े देखने में आये, बादशाह ने कहा कि "इस को जंत्र मंत्र आता है," फिर लकड़ियों में आग लगवा कर आप को उस मे छोड़वा दिया; परन्तु इस में से भी आप ऐसे (तेजस्वी) निकले जैसे आग में से सोना। "क़ाज़ी" के सब उपाय निष्फल हुये परन्तु श्री कबीर जी बादशाह के आगे नहींही झुँके। तब मतवाला हाथी लाकर उनके सामने छोड़ दिया;

हाथी आप के पास नहीं आया, बरन् चिघर चिघर करके भाग गया, क्योंकि हाथी के आगे आप सिंहरूप बैठे देख पड़े॥ (सिकंदर लोदी का राज्य सं० १५४५ से १५७४ तक)

* "उठेला गङ्गा की लहरी टूटेला जंजीर ।
प्रेम भरे राम राम रटेले कबीर ॥
जाके मन न छिगे तन कैसेके छिगे ॥"

(३३९) टीका कवित्त (८४२—३३९=५०३)

देख्यो पादशाह भाव, कूदि परे गहे पांव, देखि करामात, मांत भये सब लोग हैं । "प्रभु पै बचाय लीजै, हमैं न गजब कीजै, दीजै जोई चाहो गांव देस नाना भोग हैं"॥ "चाहैं एक राम, जा कौं जपैं आठो जाम, और दाम सों न काम, जामैं भरे कोटि रोग हैं । आये घर जीति, साधु मिले करि प्रीति, जिन्हैं हरि की प्रतीति वेई गायवे के जोग हैं ॥ २७९ ॥ (६२९—२७९=३५०)

वार्तिक तिलक ।

सब लोग हार गए । 'बादशाह' ने प्रभाव देख कर, आप के चरणों पर शिर नवाय, बिनय किया कि "मुझे जगकर्ता की अप्रसन्नता तथा क्रोधानल से बचा लीजिये, आप जो चाहैं नगर, प्रदेश सामग्री सो सब लें" । आपने उत्तर दिया कि "धन धान्य द्रव्य में करोड़ों अवगुन और रोग भरे हैं, उससे मुझ को कुछ प्रयोजन नहीं, मैं केवल 'श्री राम' नाम चाहता हूं, कि जिसको आठो याम जपा करता हूं"॥

महा राजसभा से भी जीतकर आप स्थान में पहुंचे।

सन्त भक्त, जिन्हें हरि में प्रतीति थी, अति प्रीति और आनन्द से दर्शन और मिलन को आए। जिनको श्री सीताराम जी में श्रद्धा विश्वास प्रीति प्रतीति है वेई महानुभाव गाए जाने के योग्य हैं॥

[३४०] टीका। कवित्त। [८४२—३४०=५०२]

होय के खिसाने द्विज, निज चारि विप्रन के मूड़नि मुड़ायो भेष सुन्दर बनाये हैं। दूर दूर गांवनि मैं, नावनि को पूँछि पूँछि, नाम लै "कबीर जू" की झूठैं न्योति आये हैं॥ आये सब साधु सुनि एतो दूरि गये कहूँ चहूँ दिसि संतनि के फिरैं हरि धाये हैं॥ इनहीं को रूप धरि न्यारी न्यारी ठौर बैठे एऊ मिलि गये नीके पोषि के रिझाये हैं॥ २८०॥(६२९-२८० = ३४९)

वार्त्तिक तिलक।

ब्राह्मणों को मत्सर ने पुनः घेरा; कई कई जनों को माथ मुड़वा वैरागी के सुन्दर भेष धारण करवा, चारों ओर भेजा, जो अनेक गांवो में जा जाकर झूठमूठ श्री कबीर जी की ओर से न्यवता दे दे आए कि "अमुक दिन भण्डारा है"। उसी दिन चारों ओर से वृन्द के वृन्द साधु पहुंचे। वार्त्ता जानकर श्री कबीर जी कहीं जा छुपे।

श्री सर्कार कबीर जी के वेष में अपार सामग्री सहित पहुंच, अनेक रूप से सन्तों का आदर सत्कार कर आसन दिला, ऐसा भण्डारा दिया, कि जो केवल लक्ष्मी-

नाथ सेही बन सकता है। सब सन्तों को अत्यन्त रिझालिया। श्री युगल सर्कार की जय ॥

(३४१) टीका कवित्त (८४२-३४१=५०१)

आई अपछरा, छरिवे के लिये, बेस किये, हिये देखि गाढ़े, फिरि गई, नहीं लागी हैं। चतुर्भुज रूप प्रभु आनि कैं प्रगट कियो, लियो फल नैननि को, बड़ो बड़ भागी हैं ॥ सीस धरे हाथ, "तन साथ मेरे धाम आवो, गावो गुण, रहो जौलौं तेरी मति पागी हैं"। "मगह" मैं जाय, भक्ति भाव को दिखाय, बहु फूलनि मँगाय, पौढ़ि मिल्यो हरि रागी हैं॥२८१(६२९-२८१=३४८)

वार्त्तिक तिलक ।

स्वर्ग से एक अप्सरा आप की परीक्षा के लिये आई, अपना सब करतब कर हार के लज्जित हो लौट गई। "जेहि राखे रघुबीर, बालबंक को करु सके ?"। आप ने आंखों का फल पाया, श्री लक्ष्मीनाथ ने चतुर्भुज रूप से दर्शन दिये और सीस पर करसरोज रख के आज्ञा की कि "जब तुम्हारा जी चाहे तब सबके देखते शरीर सहित मेरे परम धाम में चले आइयो; और जब तक यहां रहो मेरे गुण गाओ"।

श्री कबीर जी का	बिक्रमी सम्वत	ईसवी सन्	शाके	कलि अब्द
जन्म	१४५१	१३९४ *	१३१६	४४९५
परमधाम	१५५२	१४९५	१४१७	४५९६

श्री १०८ कबीर जी मगहर जा, भावभक्ति प्रचार कर, बड़ेही प्रसिद्ध हुए। फूल मँगा, उन को बिछा, उस पर लेट, एक सादा वस्त्र ओढ़, १०१ (एकसौ एक) बर्ष की अवस्था में, श्री परमधाम को पहुंचे। जय! जय!! हिन्दू* मुसलमान् दोनों ने देखा कि वस्त्र के तले कुछ नहीं था; केवल फूलही फूल थे ॥

☞ पृष्ट ६९८ के सन् सम्वत् शुद्ध नहीं हैं ॥☜

पृष्ठ ७१४ देखिये ॥

* " संतो! मतै मात जन रंगी ॥ कोऊ पीवत प्याला प्रेम सुधारस मतवाला सतसंगी ॥ 'सुरनर मुनि जिते पीर औलिया' जिन्ह रे पिया तिन्ह जाना। कह कबीर गूंगे की शक्कर क्योंकर सकौं बखाना? "

श्रीकबीर जी जुलाहे के घरतौ पलेही थे, और जुलाहे उन के परिवार, इससे इनका संबध मुसल्मानों से स्पष्ट है। और, मानसी भागवत सस्कार पूर्वक श्री रामनाम महा मंत्र उपदेश के साथ, स्वामी अनंतश्री रामानन्द जी महाराज का कृपा पात्र होना प्रसिद्धही है; इसी भांति हिन्दू तुरुक दोनोंही से संबंध के कारण, श्री कबीर जी के बचनों से दोनों के कल्याण की इच्छा और दोनों हीं पर आप की बड़ीही कृपा पाई जाती है।

कहते हैं कि आपने " बीजक " को संम्बत् १४६७ बिक्रमी में स्वामी श्री १०८ रामानन्द जी महाराज के परधाम के अनन्तर, १६ बर्ष की अवस्था में प्रारम्भ किया था ॥

" जो कबीर काशी मरैं, रामहिँ कौन निहोर? ॥ "

(दोहा) भजन भरोसे रामके, मगहर तजे शरीर।

अबिनाशी की गोद में, बिलसैं दास कबीर ॥

Doctor Hunter, M. A., L.L.D., K.C.I.E., C.S.I., जो आप का जन्म सन् १३८०ई० में लिखते हैं, उनके अनुसार भी, आप सन् १३९५ और १४१९ ईसवी में इस मृतलोक में वर्त्तमान थे ॥

श्री ६ पीपा जी की कथा।

श्रीयुगल सर्कार! कृपा आगार! आप की कृपा से आप को अब श्री१०८ पीपा जी की कथा सुनाता हूं

(३४२) छप्पय छन्द (८४२-३४२=५००)

पीपा प्रताप जग बासना नाहर कौं उपदेश दियो॥ प्रथम भवानीभक्त मुक्ति मांगन कौं धायो। सत्य कह्यो तिहिँ शक्ति, सुदृढ़ हरिशरण बतायो॥ श्री रामानँद पद पाइ, भयौ अतिभक्ति की सीवां। गुण असंख्य निर्मोल सन्त धरि राखत ग्रीवां॥ परसि प्रणाली सरस भई, सकल विश्व मंगल कियो। पीपा प्रताप जग बासना नाहर को उपदेश दियो॥ ६१ ॥(२१३-६१ = १५२)

वार्त्तिक। तिलक

श्री पीपा जी का प्रताप जगत में विदित है, आप के सुयश की वासना संसार में फैल रही है; एक बासना-नाहर * ने आप का उपदेश ग्रहण किया। प्रथम श्रीपीपाजी श्रीदेवीभवानीजी के भक्त रहे, एक समय शीघ्रता युक्त मन्दिर में जा पूजा ध्यान करके मुक्ति

मांगी, श्री भवानी जी ने प्रत्यक्ष रूप धर के बताया कि "श्रीहरि की शरणागति को दृढ़ धरो श्रीरामानन्द जी को गुरु करो"।

श्री स्वामी जी के चरण प्रताप से आप भक्तिभाव की सीमा तथा असंख्य अनूप गुणों के समूह हुए। सन्तों को बड़े ही बिनय बल से अपने हां अटका के पूजा सेवा किया करते थे। श्री१०८ पीपा जी की प्रणाली अति सरस निकली; सारे संसार के मंगल का कारण हुई। आपके प्रताप की बासना जगत विख्यात हुई कि ऐसे भारी हिंसक पशु (नाहर) को भी चेताया और उसको उपदेश लगा॥

*"बासना-नाहर"=एक प्रकार का नाहर [व्याघ्र] कि जिस्को बहुत दूर से मनुष्य आदि की बासना [गन्ध] पहुँच जाती है।

(३४३) टीका। कवित्त। (८४२ -३४३=४९९)

"गागरौन" गढ़ बढ़ पीपा नाम राजा भयो; लयो पन देवी सेवा, रंग चढ़यौ भारियै। आये पुर साधु; सीधो दियो, जोई सोई लियो; कियो मन मांझ 'प्रभु! बुद्धि फेरि डारियै'॥ सोयो निशि; रोयो देखि सुपनो बेहाल अति, प्रेत बिकराल, देह धरिकै पछारियै। अब न सुहाय कछू; वहूं पायँ परि गई; नई रीति भई, वाहि भक्ति लागी प्यारियै॥ २८२॥ (६२९-२८२ = ३४७)

वार्त्तिक। तिलक

गागरौन*नाम नगर में एक बड़ा गढ़ और "पीपा" नाम वहां का राजा था; देवी जी की पूजा का उसका

पन था और उन में वह भारी प्रेम रखता था । कहते हैं कि चालीस मन भोग प्रति दिन चढ़ता था । शुभ गुणों से राजा सम्पन्न था । एक दिन अकस्मात कई मूर्ति संत इस बड़ भागी राजा की पुरी की ओर आ निकले ॥

जब साधू आये तब राजा ने उनके निकट रसोई की सीधा सामग्री पहुँचवा दी । राजा का भाग धन्य और धन धन्य । साधु महात्मा तो (जिनके प्रभुही धन हैं) नित्य पूरण काम सदा कृतारथ रूप होतेही हैं, राजा ने आटा दाल चावल जल दल फूल फल, जेन केन विधि, जोही कुछ दिया सोही बड़ी प्रशंसा और सन्तुष्टता पूर्वक संतों ने अंगीकार किया।

* श्रीकाशीजी और श्रीद्वारावती (द्वारका पुरी) के बीच ।

सन्तों ने प्रभु से विनय किया कि "राजा की मति सुधार दीजिये ।"

राजा ने रात को भयानक स्वप्न देखा; प्रेत ने उस की खाट उलट दी ! श्री देवी जी ने उसको प्रत्यक्ष दर्शन दिये । राजा ने मुक्ति मांगी, श्री देवी जी ने इस प्रार्थना से प्रसन्न हो हरि भक्ति का मार्ग बताया; और देवी जी ने राजा का आदर किया, नई रीति हुई । राजा को हरि भक्ति अति प्रिय लगी ॥

(३४४) टीका । कवित्त । (८४२—३४४=४९८)

पूछ्यो हरि-पायबेको मग जब, देवी कही, "सही रामानन्द गुरु करि, प्रभु पाइये"। लोग जाने बौरी भयो,

गयौ यह काशीपुरी; फुरी मति आति, आये जहां-हरि-गाइयै ॥ द्वारमै, न जाने देत, आज्ञा ईश लेत, कही राजसीं न हेत, सुनि सबही लुटाइयै। कह्यौ "कुवाँ गिरौ" चले गिरन प्रसन्न हिए, जिये सुख पायौ, ल्याये दरस दिखाइयै ॥ २८३ ॥ (६२९—२८३ = ३४६)

वार्त्तिक तिलक।

श्री पीपा जीने श्री देवी जीसे पूछा कि "माता! श्री सीतारामजी कैसे मिलैं ?" श्री देवी जीने उत्तर दिया कि " पुत्र ! काशी जी में जाके श्री रामानन्दजी का शिष्य हो।" श्री पीपा जी बड़ीही आतुरता से श्री काशीपुरी, भगवान् रामानन्द जीके स्थान में पहुंचे; हरि-कीर्तन सुन बिशेष आनन्द पाया।

ड्यौढ़ी पर के भृत्य ने पीपा जी को रोका; उनके आगमन का सब समाचार तथा हेतु श्री स्वामी जी से बिस्तार-पूर्बक निवेदन किया; और श्री आज्ञा आ सुनाई कि "गृहाशक्ति और बिरक्ति में बड़ा अंतर है। राजसी लोगों से हमारा प्रेम नहीं। पीपा जी ने सब का सब तृण की नाईं उड़ादिया सब धन ठिकाने लगाया। इसके उपरांत इन को यह आज्ञा दी गई कि "कुएं में कूद पड़", आज्ञा सुनि, पीपा जी कुएं की ओर ज्योंही लपके, कि इतने में भगवान् रामानन्द जी के सेवक लोग बड़ी फुर्ती और अति लाघव से इन को

पकड़ के श्री स्वामी जी महाराज के सन्मुख लेगये। श्री दर्शन से पीपा जी कृतकृत्य हुए॥

(३४५) टीका । कवित्त (८४२—३४५=४९७)

किये शिष्य कृपा करी, धरी हरि भक्ति हृदै; कही "अब जावौ गृह, सेवा साधु कीजियै। बितये बरस, जब सरस टहल जानि, संत सुख मानि, आवैं घरमधि लीजियै"॥ आये आज्ञा पाय धाम, कीन्ही अभिराम रीति; प्रीति कौ न पारावार; चीठी लिखि दीजियै। "हूजियै कृपाल; वही बात प्रतिपाल करौ;" चले जुग * बीस जन संग, मति रीझियै॥ २८४॥(६२९—२८४ = ३४५)

* "युगबीस"=२०+२०=४०;२०×२=४०.

वार्त्तिक तिलक।

भगवान रामानन्द जी ने संस्कार पूर्वक पीपा जी को शिष्य करके आज्ञा दी कि "वत्स! अब तुम गागरौन गढ़ जाओ, और वहीं रह के साधुसेवा करो; जब तुम्हारी साधुसेवा सरस निकलेगी, तब बरस दिन बीते हम स्वयं तुम्हारे घर आवैंगे"। पीपा जी राजधानी में आके साधुसेवा करने लगे, यहां तक की कि उनकी कीर्त्ति कौमुदी का प्रकाश दसोदिशाओं में फैल गया; बारह महीने श्री पीपा जी को सुख से एकपल सरिस जान पड़े; अब श्री गुरु दर्शन की प्रतीक्षा कर, बिरह से बिकल हो, पीपाजी ने काशी जी में पाती (पत्रिका) निवेदन की; जिसके सत्य कार्पण्य और यथार्थ प्रणय

से द्रव कर, निज वचन को सँभाल, संतों से पीपा जी की साधुसेवा की प्रशंसा सुन, श्री सीताराम कृपा से, तीक्ष्ण विराग और तीव्र अनुराग वाले चालीस मूर्त्ति संतों को साथ ले, अनन्तश्री रामानन्द जी ने श्री काशी जी से गागरौन गढ़ को प्रस्थान किया ॥

(३४६) टीका । कवित्त (८४२ —३४६=४९६)

कबीर, रैदास, आदि, दास सब संग लिये, आये पुर पास; पीपा पालकी लै आयौ है। करी साष्टांग न्यारी न्यारी बिनै साधुन को, धन को लुटाय सो समाज पधरायौ है ॥ जैसी कीन्ही सेवा, वहु मेवा, नाना राग भोग, बानी के न जोग; भाग कापै जात गायौ है। जानी भक्ति रीति, "घर रहौ, कै अतीत होहु;" करिकै प्रतीति गुरु पग लगि धायौ है ॥ २८५ ॥(६२९—२८५ = ३४४)

वार्त्तिक तिलक।

श्री पीपा जी ने सुना कि भगवान रामानन्द जी महाराज चालीस कृपापात्रों के साथ नगर के निकट आ पहुँचे; शीघ्र राजधानी के बाहर पालकी सहित आ, अगुआई की; और अलग २ साष्टांग दंडवत कर, पालकी में चढ़ा, धन धान्य लुटाते, श्री गुरू नारायण की पालकी में अपना कंधा भी लगाए हुए चले। प्रेम से अपने कंधे पर पालकी रक्खे, बड़े धूम धाम से गीत बाजा इत्यादि के साथ, घर में ला पधराया ॥

जिस भाव से श्री गुरु और संत समाज की सेवा पूजा करने लगे कहते नहीं बनता; नित्य के राग भोग की प्रशंसा किस से की जा सकती है? स्वामी जी महाराज ने इन की रुचि देख, आज्ञा की कि "यदि तुम इसी रीति पर राम कृपा से चले चलो तो राज त्यागना और घर में बने रहना दोनोंही बातें तुम्हारे लिये तुल्यही हैं।" श्री गुरु वचन का हृदय समझ दौड़कर श्री चरणारविन्द पर आगिरे अर्थात् यह चाहा कि सब छोड़ श्री गुरु सेवा में बना रहूं॥

(३४१) टीका। कवित्त (८४२—३४१=४९५)

लागी संग रानी दस * दोय, कही मानी नहीं, कष्ट को बतावै, डर पावै, मन लावहीं। "कामरीन फारि मंधि, मेखला पहरि लेवो, देवो डारि आभरन, जो पै नहीं भावहीं"॥ काहू पै न होय, दियो रोय, भोय भक्ति आई, छोटी नाम सीता, गरें डारी न लजावहीं। "यहू दूर डारौ, करौ तन को उघारौ;" कियौ; दया रामानन्द हियौ; पीपा न सुहावहीं॥ २८८॥(६२९-२८६ = ३४३)

* "दसदोय"=१०+२=१२ अथवा १०×२=२०

वार्तिक तिलक।

जब पीपा जी की बारह (वा बीस) रानियों ने जाना कि हमारे महाराज, राज और घर सब कुछ छोड़, बिरक्त हो, भगवान श्री रामानन्द जी के साथ जा

रहे हैं, तो वे सब की सब साथ हुईं; और, मार्ग के कष्ट बताने डराने डांटने फटकारने समझाने से भी किसी ने नहीं माना। श्री पीपा जी ने कमली फाड़ फाड़ कर, सब रानियों को दी कि यही गले में पहन पहन लो, और भूषण बसन उतार डालो, जो यहां रहना नहीं भाता है तो इसी वेष से चलना पड़ैगा"। यह तो किसी से नहीं हो सका; सबों ने रोदिया; परंतु "सीता सहचरी" नाम सब से छोटी रानी, जो भक्तिवती सुन्दरी सुकुमारी और बड़ी सुशीला थी, शीघ्र उठ खड़ी हुई; और अपने सिंगार आभरन इत्यादि उतार, लाज तज, कंबल की मेखला *(अलफी) गाती पहन, हाथ जोड़, समाज में आमिली। पीपा जी ने कहा कि "यह भी उतार फेंको" सीता–सहचरी ने ऐसाही किया। भगवान रामानन्द जी को इस पर बड़ी ही दया आई; पर पीपा जी को स्त्री का साथ लेना नहीं भला लगता था॥

* "मेखला"=कटि भूषण, करधनी।

(३४८) टीका। कवित्त (८४२-३४८=४९४)

जौ पै या पै कृपा करी, दीजै काहू संग करि, मेरे नहीं रंग यामै, कही बार बार है। सौंह को दिवाय दई; लई तब कर धरि; चले ढारि; बिप्र एक छोड़ैं न विचार है॥ खायौ बिष; ज्यायौ; पुनि फेरि कै पठायौ सब; आयौ यों समाज द्वारावती सुख सार है। रहे कोऊ दिन; आज्ञा माँगी इन रहिबे की; कूदे सिंधु माँझ; चाह उपजी अपार है॥ २८७॥ (६२९–२८७ = ३४२)

वार्त्तिक तिलक।

श्री गुरु भगवान से पीपा जी ने पुनः पुनः प्रार्थना की कि "मुझ को इस का साथ ले चलना नहीं भाता है, यदि आप को इस पर इतनी करुणा है तो किसी और कृपापात्र के साथ कर दीजिये"। पर स्वामी जी महाराज ने शपथ दिया; तब पीपा जी ने सीता-सहचरी जी का हाथ थाँभ लिया। श्री सीताराम कृपा से समाज ने प्रस्थान किया।

रानियां दूसरा रंग लाईं, एक ब्राह्मण को (जो पुरोहित से कुछ संबंध रखता था, कहते हैं कि उन्नीस सौ रुपए देने की प्रतिज्ञा कर) कहा कि "किसी भाँति राजा को रोको"। वह ब्राह्मण हलाहल बिष खागया जिस के भयानक परिणाम से पीपा जी अत्यंत डरे। परन्तु भगवान रामानन्द ने श्री सीताराम कृपा से तत्क्षणही उस दुर्बुद्धि को जिलादिया; और, उन मूर्खों को फेरदिया, यह मंगल समाज सानन्द शीघ्र पयान कर सुख पूर्वक, बिचरता, मार्ग वासियों को कृतार्थ करता, श्री द्वारावती (द्वारिका) पहुंचा। कुछ दिन सुख से साथ रह कर पीपा जी ने श्री गुरु-सतसंग का आनंद प्राप्त किया। जब समाज वहां से काशी जी को चला, तो आज्ञा मांग कर श्री पीपाजी द्वारावती ही में रह गये भगवत दर्शन की अत्यंत आकांक्षा से श्री पीपा जी सीता-सहचरी समेत एक दिन समुद्र में कूद पड़े।

दीर्घ-दर्शी स्वामी श्री १०८ रामानन्द जी महाराज, पीपा जी के जल में कूदने की परीक्षा तो लेही चुके थें।

(३४९) टीका। कवित्त (८४३—३४९=४९३)

आये आगे लैन आप, दिये हैं पठाय जन, देखि द्वारावती कृष्ण मिले वहुभाय कै। महल महल मांझ चहल पहल लखी, रहे दिन सात, सुख सकै कौन गाय कै॥ आज्ञा दई जाइबेकी; जाइबौ न चाहैं; हिये पिये वह रूप "देखौ मोंहीं को जु जाय कै"। "भक्त बूड़ि गये, यह बड़ोई कलंक भयौ, मेटौ तम, अंक संक गही अकुलाय कै॥ २८८॥ (६२९—२८८ = ३४१)

वार्त्तिक तिलक।

जैसेही दम्पती समुद्र में कूदे, वैसे ही श्री कृष्ण भगवान के भेजे हुए एक मूर्त्ति ने इन दोनों को रास्ता दिखाते हुए श्री महल तक पहुंचा दिया, जहां श्री रुक्मिणी जी महारानी समेत श्री कृष्ण भगवान इन की अगुआई के लिये स्वयं आगे आ खड़े थे। श्री पीपा जी और सीतासहचरीजी ने श्री द्वारावती का दर्शन करके अद्भुत आनन्द तो पाया ही था, किन्तु प्रभु जिस कृपा और भाव से इन से मिले, और सात दिन तक इन ने मंदिर मंदिर में जैसा चहल पहल (परमानन्द) का अनुभव पाया, उस सुख का बर्णन किसी कवि से क्या बरन शेष शारदा से भी नहीं हो सकता।

प्रभु ने बाहरजाने की आज्ञा दी; यद्यपि साक्षात दर्शन के सुख को छोड़ कर जाना नहीं चाहते थे, तथापि

श्री हरि ने यह समझाया कि "जहाँ रहोगे वहां इसी ध्यान में मग्न रहोगे, और यदि तुम को न भेजूं तो लोक में यह कलंक होगा कि भगवत का भक्त डूब गया! सो तुम्हें इस कलंक रूप अंधकार को मेटना उचित है।" आज्ञा सीस धर उस छाप को जो भगवत ने अनुग्रह किया, पीपा जी ने हाथ में ले लिया; और विरह से अत्यंत बिकल हुए। श्री रुक्मिणीजी दयामयी ने अपना प्रसाद, सारी, महा भाग्यवती सीतासहचरी को अनुग्रह किया; तदनंतर प्रभु समुद्र तट तक पहुंचाने के अर्थ उठ खड़े हुए॥

(३५०) टीका। कवित्त। (८४२—३५०=४९२).

चले पहुंचायबे को प्रीति के अधीन आप, बिन जल मीन जैसे अैसे फिरि आये हैं। देखि नई बात, गात सूके* पट, भीजे हिये, लिये पहिचानि, आनि, पग लपटाये हैं॥ दई लै कै छाप, पाप जगत के दूर करौं, "ढरौ कहूं और" कहि सीता समुझाये हैं। छठेई मिलान* बन मै पठान भेट भई, लई छीनि तिया, किया चैन, प्रभु धाये हैं॥ २८९॥ (६२९—२८९ = ३४०)

सूके"=सूखे, भीगे नहीं। "मिलान"=मार्ग माप (Jj mile)

वार्त्तिक तिलक।

भगवत तो प्रेम के अधीन हैं ही, पहुँचाने को चले और पहुँचा कर श्री भक्तवत्सल महाराज ऐसे फिरे जैसे जल बिन मीन; श्री पीपा जी तथा श्री सीता-

सहचरी जी की दशा क्या कही जाय? जैसे बिना प्रान के शरीर की।

समुद्र के तट पर लोगों ने श्री पीपा जी और सीतासहचरी जी को बड़े आश्चर्य से देखा; इन के शरीर और वस्त्र का एक सूत वा एक रोम भी भीगा नहीं था। सब के सब सूखे ही थे; इन के हृदय भगवत प्रेम से भली भाँति भीगे थे। सिंधु तट की भीड़ने, जिन में से बहुतों ने इन दोनों को समुद्र में कूदते देखा था, पहिचान लिया; महात्मा लोगों ने बड़े आदर से दोनों को लाके, दिव्य द्वारिका और श्री हरि कृपा का वृतान्त सुना; तथा छाप को देख कर चरणों में लपट गये; श्री पीपा जी ने छाप को पुजारी के हाथों में सौंप, श्री मुख बचन कह सुनाया कि "जिस को छाप लगेगी सो भवसागर से उत्तीर्ण हो जायगा"। श्री आयुध अंकित प्राणियों की महिमा श्री पीपा जी ने भगवत आज्ञा से समझा के कहा कि "लोगों का पाप छुड़ाया कीजिये"॥

दरशन को आनेवाले लोगों की भीड़ देख कर श्री पीपा जी श्री सीतासहचरी की सम्मति से शीघ्र ही वन की ओर चल दिए। श्री पीपा जी ने श्री सहचरी जी को समझाया कि "तुम सरीखी युवा सुन्दरी को मुझ अकेले के साथ चलना ठीक नहीं है;" पर श्री कल्यानी जी ने एक न सुना।

बन में छः "मिलान" जाने पर दुष्ट पठान लुटेरों की दृष्टि श्री सहचरी जी पर पड़ी और साथही सब के सब इन दोनों पर टूट पड़े! स्त्री को छीन चम्पत हुए।

श्री सीता सहचरी भगवत से बिनय करने लगीं कि "प्रभो यदि तुम ने तनक बिलंब किया तो इसकी लाज औ प्राण पर न जानूं कि क्या और कैसा हो?

"तुम को तो है यह खेल कौतुक, पर।
जाते हैं लाज प्राण यां, प्रियवर!
हूं मैं अबला न सिख दो यों बेढब्।
जुक्त ऐसी हँसी औ सिष हैं कब?
सर्व औसर में हौ निकट प्यारे।
तजि बिलँव् बेग हो प्रगट प्यारे"।

वहीं, श्री हरि ने निगुड़े दुष्टों को पूरा दंड और सहचरी जी को दर्शन दिया। श्री पीपा जी भगवत इच्छा समझ एकांत को सुखद मान भगवत भजन में चैन करने लगे; तथापि श्री हरि श्री सहचरी जी को श्री पीपा जीके पास पहुँचाकर आप अंतर्द्धान होगये।

[३५१] टीका कवित्त.[८४२-३५१=४९१]

अभू लगि जाओ घर, कैसे कैसे आवैं डर, बोली "हरि! जानिये न भाव पैम आयो है"। लेतहौं परिच्छा, मैं तौ जानौं तेरी सिच्छाऐपै, सुनि दृढ़ बात कान अति सुख पायौ है"॥ चले मग दूसरे; सु, तामैं एक सिंह रहै, आयो बास लेत; शिष्य कियौ, समझायो है॥ आए

ग्रौर गांव, सेषसाई प्रभु नाव रहैं; करेंवाँस हरे; ढ़रे "बीधर" सुहायो है ॥२६० (६२९-२९० = ३३९)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीपीपाजी ने सीतासहचरी जी से कहा कि "देखो! कैसे कैसे उपद्रव खड़े होते हैं; तुम ग्रब भी घर फिर जावो; ग्रापने उत्तर दिया कि हे हरि! यह दासी तो कदापि पीछे पग देने की नहीं; ग्रापने ठीक विचार नहीं किया है; मेरे निमित्त ग्रापने कौन सा उद्योग किया है? ग्रौर श्रीयुगल सर्कार ने किस ग्रापत्ति की शान्ति नहीं की है? तब श्री पीपाजी ने मुसका के कहा "मैं केवल तुम्हारी परीक्षा लेता था, तुम्हारी समझ बूझ को मै जानता हूं, तुम्हारी दृढ़ता देख स-मझ सुन के मैंने ग्रतिशय सुख पाया (दोहा) पीपा जी तब हँसि कह्यौ, "लई परीक्षा तोरि॥ तैं तो श्री रुक्मिणि सखी, तोहि तजे बड़ि खोरि"॥

उस मग को तज, दोनों मूर्तियों ने दूसरा पथ पकड़ा; कुछ ग्रागे बढ़, एक सघन विपिन में एक बड़े सिंह के गरज की प्रतिध्वनि सुनी जो मनुष्यों की वासना पाके टोह लेता हुग्रा इन दोनों की ग्रोर ग्रा-निकला। परन्तु इन पर दृष्टि पड़ते ही वह मृगराज बकरी के सदृश ग्रधीन हो स्वान की नाईं पूंछ हि-लाने लगा॥ (चौ०) पीपा ताके निकट सिधारेउ। देइ तेहि मंत्र, माल गर डारेउ॥

सिंह को उपदेश और शिक्षा दे, समझा बुझा, एक गांव में आये जहां शेष साईं नाम प्रभु के दरशन किए ।

एक जगह कोई मनुष्य लाठी बेच रहा था उस से एक लाठी माँगी, उसने कहा "बँसवाड़ी में से जाकर काट क्यों नहीं लाते ?" आप ने कहा बहुत अच्छा, राम कृपा से ऐसा ही होगा ।" सो उसकी वे सब सूखी लाठियाँ धरती में जड़ पकड़ कर, हरे हरे वाँस हो गई आपने उसमें से एक लाठी काटली ।

फिर "श्रीचीधड़ भगत" का नाम सुन के उन से मिलने को चले ।

श्री पीपा जी और श्री सीता-सहचरी का नाम, यश, देश देश, गांव गांव, गली गली, प्रसिद्ध होगया ॥

(३५२) टीका । कवित्त (८४२—३५२=४९०)

दोऊ तिया पति देखैं आए भागवत; ऐपै घर की कुगति रति सांची लै दिखाई है । लहँगा उतारि, बेचि दियौ, ताकौ सीधौ; लियौ "करौ अजू पाक," वधू कोठी मैं दुराई है ॥ करी लै रसोई सोई; भोग लगि बैठे, कह्यौ "आवौ मिलि दोई लेव" "कही पाछे सीत भाई है ।" "वाहू कौ बुलावौ ल्यावौ आनि कै जिमाँवौ, तब सीतागई ठौर नगन लखाई है ॥ २९१॥ (६२९-२९१=३३८)

वार्त्तिक तिलक ।

श्री चीधड़ भगत जी और उन की भगतिन ने भाग-

वतों के दरशन से अति आनंद पाया। श्री चीधड़ भगत जी ने पूछा तो जान पड़ा कि घर में कुछ नहीं है! श्री पीपा जी और सीतासहचरी जी का नाम सुन के दोनो हर्ष से फूले नहीं समाये।

चीधड़ जी की धर्मपत्नी जी ने अपना लहँगा उतार के बड़े प्रेम से दिया और श्री चीधड़ जी ने उस को बेच, सीधा सामग्री मोल ले श्र पीपा जी के आगे ला रक्खा।

जब रसोई होगई, और श्री युगल सर्कार को भोग लग चुका, तो आप दोनों ने कहा "भगतिन जी को बुलाइये, सब मिलकर प्रसाद पावैं; इन ने उत्तर दिया "वह पीछे से सीत प्रसादी लेगी आप दोनों पावें।" चार पत्ते परस के श्री पीपा जी ने सहचरी जी को कहा कि "तुम आप जाके भगतिन जी को लिवाय लाओ।" श्री सहचरी जी आके देखती हैं तो भगतिन जी को एक कोठी में नंगी बैठी पाया॥

(३५३) टीका। कवित्त। (८४२—३५३=४८९)

पूछैं "कहो बात, ए उघारे क्यों हैं गात," कही "ऐसेहीं बिहात, साधुसेवा मन भाई है॥ आवैं जब संत, सुख होत है अनंत, तन ढक्यो, कै उघारो? कहा चरचा चलाई है"॥ जानिगई रीति, प्रीति; देखी एक इनही मै, "हमहूँ कहावैं, ऐपै, छटाहूँ न पाई है।" दियो पट आधो फारि, गहि कै निकारि लई, भई सु-

खसैल, पाछैं पीपा सों सुनाई है ॥२९२॥ (६२९-२९२=३३७)

वार्त्तिक तिलक।

श्री सहचरी जी ने पूछा कि "भगतिन जी नंगी क्यों हो?" उत्तर दिया कि दिन इसी भांति व्यतीत होते हैं; साधु सेवा में बिलक्षण सुख की प्राप्ति हुआ करती है; उस सुख के सामने कुछ भी दुख ऐसा जान नहीं पड़ता; जब संत कृपा करि कै पधारते हैं, तो असीम सुख मिलता है; तब इस चरचा की क्या आवश्यकता रहती है कि 'तन ढका है कि नंगा,?

सहचरी जी ने बातों में सब कुछ समझ लिया और जाना कि "ओह! श्री सीताराम कृपा से इन की रीति प्रीति बर्ताव इन्हीं में है; हमलोग भी 'संत भक्त' कहलाते हैं, पर इनकी छटा भी हम में कहीं पाई नहीं जाती।" अपने बस्त्र में से आधा फाड़ कर उनको पहिनाया और हाथ पकड़ के वहां से लिवाय लाईं; जितना सुख समूह हुआ वह बरनन नहीं हो सकता है॥

प्रसाद पाने के अनंतर श्री पीपा जी से श्री सहचरी जी ने सब वार्त्ता विस्तार पूर्वक कह सुनाई॥

(३५४) टीका। कवित्त। (८४२—३५४=४८८)

करैं बेस्या कर्म, अब धर्म है हमारो यही," कही; जाय बैठी जहां नाजनिकी ढेरी है। घिरि आये लोग जिन्है नैननि को रोग; लखि दूर भयो सोग, नेकु नीकेहूं न हेरी है॥ कहैं "तुम कौन?" "बारमुखी,

नहीं भौंन संग भरुवा," सुगहै मौन; सुनि परी बेरी है। करी अन्न रासि आगे मुहर रुपैया पागे; पठै दई चौधर के; तब ही निबेरी है ॥ २९३ ॥(६२९-२९३=३३६)

वार्त्तिक तिलक।

श्री सहचरी जी ने कहा कि "मेरा अब यही धर्म है कि अपनी सौन्दर्य्यता को बेचूं, और इन दंपती को अन्नादि दूं।

(सो०) हरि जन चरित विचित्र, जिमि हरि चरित विचित्र अति।
जानिय सदा पवित्र, नहिँ संशय, वे अलख गति ॥ १ ॥

(दो०) चरित समर्थन के अलख, गूढ़, अतर्क्य, अदोस।
जे सुनि ईर्षा करहिँ ते, मूढ़ अविद्याकोस ॥१॥
बड़े कहैं सो कीजियै, करैं सो लेय विचार।
श्याम कीन्हि करतूति जे, नहिँ कर्तव्य हमार ॥२॥

यह कह अन्नके गोल (बाज़ार) में जा बैठी जिन लोगों को वेश्याओं के देखने का रोग था वे लोग वहाँ घिर आये; परन्तु श्री सहचरी जी के दरशन के माहात्म्य से उन के रोग सोग जाते रहे, उन के मन पवित्र हो गए और उन ने फिर आप की ओर विषय दृष्टि से नहीं देखा; पूछा कि "तुम कौन हो?" आप ने कहा कि "बारमुखी, मेरे घर गृहस्ती नहीं है और साथ में * भँडुआ (मौन बैठा है) भी नहीं है।" इतना कह आप मौन हो गईं। सब लोग वहाँ घिरे खड़ेही रहे; बरंच राम कृपा से सब लोगों को निश्चय

निर्णय होगया कि ये श्री सीता-सहचरीजी और श्री पोपा जी हैं। ("तब ही निबेरी है") आप के आगे नाज सोना अन्न धन का ढेर लगा दिया। आप उस अन्न धन को श्री चीधर भगत जी के घर भिजवा कर तब वहां से आप भी उठ के श्री पीपा जी और चीधर भगत जी के यहां चली आईं।

उस नाज सोना धन धान्य से श्री चीधर जी भली भांति साधुसेवा करने लगे।

* कोई २ कहते हैं कि पीपा जी को भेंडुआ बताया ॥

(३५५) टीका । कवित्त (८४२—३५५=४८७)

आज्ञा मांगि "टोड़े" आये; कभूं भूषे कभूं धाये; औचकहीं दाम पाये, गयो हो स्नान को। मुहरनि भांड़ो, भूमि गाड़ो, देखि छांड़ि आयौ; कही निसि, लिया बोली "जावौ सर आन को॥ चोर चाहैं चोरी करें; ढरे सुनि वाही ओर, देखैं जो उघारि सांप, डारैं हते प्रान को। ऐसे आय परीं; गनी, 'सात सत बीस' भईं, तोलै पांच बाट करै एक के प्रमान को ॥ २९४ ॥ (६२९-२९४=३३५)

वार्त्तिक तिलक।

श्री पीपा जी श्री सीतासहचरी सहित श्री चीधड़ जी और उन की भगतिन से आज्ञा लेके "टोड़े" नाम के एक गांव में आये। "कभी घीघना कभी मुट्ठी चना कभी वह भी मना" तो बिरक्तों के भोजन की

ऐसी वार्ता प्रसिद्धही है इसका कहनाही क्या है।

एक दिन स्नान को गये थे, वहां अचानक बहुत धन देखा कि स्वर्ण मुद्राओं से भरे हुए घड़े धरती में गड़े कुछ कुछ दिखाई देरहे हैं। आप देखके छोड़ आये। रात को स्त्री से यह बात कही। ये बोलीं कि "अब से आप उस ठिकाने न जाइये, दूसरे पोखरे पर स्नान को जाया कीजिये।"

श्री पीपा जी श्री सीतासहचरी जी से उस धन के पता ठिकाने की जब बात जहां कर रहेथे उसी समय वहीं, पासही चोर भी चोरी की ताक में छिपे दोनों की बातें सुनरहे थे; सो वे चोर उसीपते पर पहुंचे, और उन पात्रों को देखा भी; परन्तु जो उनको खोलें तो उन में विषधर सांप देख पड़े क्रोध से भरके वे चोर उन बरतनों को उठालाये और श्री पीपा जी के घरमें गिरादिया; ऐसे घरबैठेही धन पहुँच गया; श्री पीपा जीने गिने तो सोने के भारी भारी मुद्रे (७२० सात सौ बीस) थे, जो एक एक मुद्रा तौल में पाँच पाँच तोले का था॥

(३५६) टीका। कवित्त (८४२—३५६=४८६)

जोई आवै द्वार, ताहि देत हैं अहार; और बोलि कै अनंत संत भोजन करायो है। बीते दिन तीन, धन खाय प्याय छीन कियौ; लियौ सुनि नाम नृप, देखिबे को आयो है॥ देखि कै प्रसन्न भयौ; नयौ; "देवौ दीक्षा मोहि;" "दीक्षा है अतीत, करैं आप सो सुहायो

है। "चाहौ सोई करौं, हूै कृपाल, मोकों ढरौ;" "अजू! धरौ आनि संपति औ रानी;" जाइ ल्यायौ है ॥२९५॥
(६२९-२९५=३३४)

वार्त्तिक तिलक।

श्री पीपा जी उस धन को पाके साधु भागवत अतिथि और भूखों को खिलाने लगे; जो आता था उस को पूरा भोजन देते थे, और प्रतिदिन बहुत संतों को बुला के भंडारा देते थे; तीन दिन इसी धूमधाम से व्यतीत हुए; सब धन खिला पिला उड़ादिया।

वहां का राजा "सूर्य्यसेनमल" आपका नाम सुन के दरशन को आ देख के बड़ा प्रसन्न हुआ और बड़ी नम्रता से बार बार दंडवत कर प्रार्थना की कि "मुझको दीक्षा शिक्षा दीजिये।" आपने आज्ञा की कि "पहली शिक्षा अतीत (विरक्त) होना है, जो होसके तो हो क्योंकि हम अपने सरीखा सुंदर कर लेते हैं" राजा ने कहा कि "जो कहियेगा सो करूँगा, । आप मुझपर कृपा कीजिये।" श्री पीपा जीने आज्ञा की कि "अपनी सब संपत्ति और रानी लाके मुझको भेँट दे दे" राजा ने वैसाही किया॥

(३५१) टीका। कवित्त (८४२ - ३५१=४९१)

करि कै परीक्षा, दई दीक्षा; संग रानी दई; "भई ए हमारी, करौ पर दान संत सों। दीयौ धन घोरा कछू, राख्यो दै निहोरा; भूप मान तन छोरा; बड़ो मान्यौ जीव

जंत सो ॥ सुनि जरि बरि गये भाई "सेनसूरज" के, ऊरज प्रताप कहा कहैं सीताकंत सों । आयौ बनिजारौ, मोल लियौ चाहैं खैलनि कौं; दियौ बहकाय, कह्यौ पीपा जू अनंत सों ॥२९६॥ (६२९–२९६=३३३)

वार्तिक तिलक ।

इस भांति परीक्षा लेकर श्री पीपा जीने राजा सूर्य्यसेनमल को दीक्षा दी, और रानी तथा राज्य उस को फेर देके यह शिक्षा दी कि "रानी और राज्य सब कुछ मेरा है, तू अपना न समझ, भगवंत और संतो की सेवा कियाकर और संतों से कुछ ओट न रखना, ए रानियां सामने दरशन किया करैं" ।

बारंबार बिनय कर के एक घोड़ा और एक तोड़ा भेट कर के राजा बिदा हुआ । राजा ने अपने नृपतित्व का अभिमान छोड़ा और स्वामी जी की आज्ञानुसार सन्त तथा जीव जंतु की सेवा करने लगा ।

राजा सूर्य्यसेन मल के भाई इत्यादि यह सब देख सुन दुष्टता से जल भुन गये, परंतु श्री सीताराम जी तथा श्री सीता-सहचरी जी के कान्त श्री पीपा जी के ऊंचे (ऊरज) प्रताप से चीं नहीं कर सकते थे ।

एक बनिजारा बैल मोल लेने आया दुष्टों ने उस से कह दिया कि पीपा जीके पास बहुत अच्छे अच्छे खैला (नाटा) बैल अनन्त हैं ॥

(३५८) टीका । कवित्त (७४२-३५८=३८४)

बोल्यौ बनिजारो दाम खोलि, "खैला दीजियै जू!" "लीजियै जू!, आय, गांव चरन पठाये हैं।" गये उठि पाछे बोलि संतनि, महोच्छौ कियौ; आयौ वाही समै; कही "लेहु मन भाये हैं"॥ दरसन करि, हिये भक्ति भाव भर्यौ आनि, आनि कै बसन सब साधु पहिराये हैं। और दिन न्हाने गये घोड़ा चढ़ि छोड़ि दियौ, लियौ, बाँध्यौ दुष्टननि; आयौ, मानौ ल्याये हैं ॥ २९७ ॥ (६२९—२९७=३३२)

वार्तिक तिलक ।

वह बनिजारा श्री पीपा जी की कुटिया में आ-बहुत से रुपये सामने रख, बोला कि "मुझे खैले (बैल) चाहिये"। आपने कहा कि "बहुत अच्छा, जितने चाहिये उतने लीजियो; बैल गांव में चरने के लिये गये हैं; कल दो पहर से पहले आना।" आज्ञानुसार उधर बनिजारा रुपये दे चला गया, और इधर आपने न्योता दे दे के सन्तों को बुलवाया, उस के सब रुपये भंडारे में लगादिये।

दूसरे दिन सहस्रशः संत इकट्ठे हुए थे उसी महोत्सव के समय बनिजारा भी आ पहुँचा और बैल मांगे आप ने उत्तर दिया कि "इन संतों को देख, कि परलोक के खेप पहुँचा देने वाले ये कितने बैल भोजन कर रहे हैं, मैं इन्हीं बैलों का वाणिज्य करता हूं सो ले।

संतों के दरशन करके उसकी बुद्धि निर्मल हो ही गई और उस ने बड़ा आनन्द पाया; शीघ्रही बस्त्र भी लाके सन्तों को उढ़ाया पहनाया; और रुपये भी संतों के वस्त्र के लिये दिये। इस प्रकार से उस बड़ भागी के रुपये से श्री पीपा जी ने भोजन और बस्त्र से सेवा करके उस समय संतों के समाज को बड़ाही प्रसन्न किया। श्री कृपा से वह बनिजारा तब से बड़े प्रेम से साधु-सेवा करने लगा।

एक दिन श्री पीपा जी घोड़े पर चढ़ तड़ाग में स्नान को गए; घोड़े को जब योंही छोड़ स्नान आदि में लगे, तब दुष्टों ने घोड़े को चुरा लेजाकर अपने यहां बांध रक्खा। परन्तु जब श्री पीपा जी स्नान आदि करके चलने लगे तो घोड़े को वहां कसा कसाया श्री रामकृपा से हिंहनाता ऐसा उपस्थित पाया कि मानों उस को कसके अभी कोई लाया है॥

☞ श्री १०८ पीपा जी का समय, विक्रमी सम्वत् की पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा सोलहवीं* शताब्दी के पूर्वार्द्ध में था॥

(३५९) टीका। कवित्त (८४२-३५९=४८३)

गये हे बुलाये * आप; पाछे घर संत आये; अन्न

* सोलहवीं शताब्दी के अन्त (सम्वत् १५९७) में श्री अवध प्रदेश ("जायस") के मध्य मलिक मुहम्मद जायसी ने "पद्मावत" (दोहे चौपाइयों में) प्रशंसनीय रची॥

कछू नाहिं; "कहूं जाय करि ल्याइये ॥" विषई वनिक एक देषि कै बुलाइ लई दई सब सौंज कही "सहीनिसि आइये"॥ भोजन करत मांझ पीपा जू पधारे; पूछी वारे तन प्रान जब कहिकै सुनाइये ॥ करिकै सिँगार सीता चली झुकि मेह आयौ, कांधे पै चढ़ायौ वपु बनिया रिझाइये ॥ २९८ ॥ (६२९—२९८=३३१)

वार्तिक तिलक।

श्री पीपा जी महाराज को राजा सूरज सेन मल ने एक झगड़े के न्याय * में सहायता लेने के लिये सादर सविनय बुलाया था, सो आप वहीं गए थे। पीछे में आप की कुटी में सन्त का समाज आया। श्रीसीतासहचरी जी ने संतों को सादर सप्रेम आसन दिला, घर में देखा तौ अन्न कुछ भी न था; बिचारा कि "जाके कहीं से कुछ अन्नादि लाना चाहिये।" इस लिये चलीं। आप को देख एक बिषयी बनिये ने सब सामग्री पूरा पूरा, यह वचन लेके, कुटी पर पहुंचवा दिया कि रात को अवश्य आना। जिस समय संत भगवत प्रसाद पारहे थे, श्री पीपा जी आ पहुँचे और देख के अति आनन्द को प्राप्त हुए। समय पाके पूछा और सुना कि यह रिद्धी सिद्धी कहां से आई। सब मर्म जान कर, श्री सहचरी जी पर अति प्रसन्न हो तन मन प्राण निछावर किया।